THE BOOK WAS DRENCHED

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180638

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 83/V13 Accession No. G.H.1915

Author वाजपेयी, भ० लक्ष्मी आत्मा, प्र०

Title कालिदास 1940

This book should be returned on or before the date last marked below.

[illegible]

लेखक
श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी
श्री प्रफुल्लचन्द ओझा 'मुक्त'

प्रकाशक —
प्रमोद-पुस्तक-माला
कटरा, प्रयाग

द्वितीय बार] अप्रिल १९४० [मूल्य १॥)

प्रकाशक
करुणाशंकर शुक्ल
प्रमोद पुस्तकमाला
कटरा, प्रयाग।

मुद्रक
करुणाशंकर शुक्ल
प्रमोद प्रेस, कटरा, प्रयाग

सस्नेह

निवेदन

इस उपन्यास का पहला संस्करण कई वर्ष पहले निकला था। मैंने देखा कि वर्ष के भीतर ही उसका संस्करण समाप्त भी हो गया, तो भी इसके स्वत्वाधिकारी तथा पूर्वाद्ध लेखक, हिन्दी-साहित्य के अग्रगण्य कलाकार पण्डित भगवतीप्रसाद जी वाजपेयी ने इसे प्रकाशित नहीं किया। जब कभी उनसे भेंट होती, मैं उनसे यही निवेदन करता कि ऐसी अमूल्य कला-कृति के प्रति आपकी यह उपेक्षा उचित नहीं है। अस्तु, आज मुझे पाठकों के समक्ष इसका द्वितीय संस्करण उपस्थित करने में जिस आनन्द का अनुभव हो रहा है, उसके लिये मैं वाजपेयीजी का हृदय से आभारी हूँ।

प्रकाशक

[illegible]

[१]

हिन्दू-हास्टेल, प्रयाग

प्यारी सन्ध्या, ता० ३ । ७ । २१

कल मैं तुम्हारे यहाँ गया था। बड़ी देर तक बाबूजी के यहाँ बैठा रहा। पर उधर, तुम्हारे पास, आ न सका। शायद मेरे उठकर चले आने के अनन्तर तुमने सुना भी होगा कि मैं आया था। सोचता हूँ, जब तुमने सुना होगा कि मैं आया था और उधर आये बिना ही चला भी गया, तो तुम्हें कुछ बुरा मालूम हुआ होगा। चलते समय भी मैंने यह सोचा था; फिर भी मैं तुम्हारी ओर आये बिना चला ही आया। जानती हो, क्यों ?

अच्छा सुनो। बहुत दिनों से एक बात मेरे मन को मथती चली आ रही है। बहुत दिनों से इच्छा थी कि उस सम्बन्ध में तुमसे कुछ कहूँ। पर कुछ कहने का साहस न होता था। तुम पूछ बैठो कि आज ही वह साहस मुझमें कहाँ से, कैसे, फूट पड़ा; तो इसके उत्तर में मैं कहूँगा कि बहुत दिनों से, बड़े धैर्य के साथ, थोड़ा-थोड़ा करके मैंने जो सञ्चय किया है, आज अपनी उसी चिरसञ्चित सम्पत्ति को अपनी साधना के दाँव पर लगाये देता हूँ। देखना है, आज अपने जी की वह भूली, नहीं भुलाई हुई बात, ठेल-ठालकर किसी तरह तुम्हारे सामने रख पाता हूँ कि नहीं।

यों तुमको देखे हुए तो कई वर्ष हो गये; पर तुम्हारे इधर-उधर डोलने, कभी अचानक, तो कभी प्रसङ्गवश तुम्हारे सामने से निकल जाने का सुअवसर अभी इसी वर्ष से मिला है। जब कभी तुमने कुछ पूछ दिया, अथवा तुमसे कुछ कहने में मेरा ही हेतु हुआ, तभी तुमसे जो कुछ कहा है, अभी तक उसी का तुमसे मेरा सूखा नाता रहा है। फिर भी आज मैंने तुम्हें प्यारी लिखकर यह पत्र लिखना प्रारम्भ किया है। 'तुम' शब्द तो तुम्हारे लिए मैं शुरू से ही प्रयोग करता आया हूँ। वह तो पहले दिन से ही मेरी बातचीत के आगे चलता रहा है। पर यह जो आज अचानक एक और 'प्यारी' शब्द

इसके साथ मिलाये दे रहा हूँ, अभी तुम्हारे लिए शायद नयी बात होगी। नहीं मालूम, यह नया—केवल ढाई अक्षरों का—शब्द अपने लिए प्रयोग करने का अपराध तुम क्षमा भी कर सकोगी या नहीं। नहीं मालूम यह पत्र, तुम इस रङ्ग में लिखे रहने के कारण पूरा-पूरा पढ़ोगी भी कि नहीं। फिर भी आज मैं तुम्हारा थोड़ा-सा समय इस हेतु नष्ट करना ही चाहता हूँ। यही मेरी इच्छा है।

कभी मेरे संबन्ध में तुमने किसी से कुछ बातें की थीं। की थीं न? हाँ, उन्हीं से मुझे कुछ मालूम हुआ है। उन्होंने तुमसे कहा था, वे बड़े सीधे-सादे हैं। किसी के यहाँ खाना खाने बैठेंगे तो अधपेटे उठ आयेंगे, पर यह न कहेंगे कि थोड़ा सा साग और चाहिये। किसी स्त्री से, आँख उठाकर, बात तक नहीं करेंगे; चाहे कुछ काम ही क्यों न अटक जाय। वे ऐसे सङ्कोची हैं कि किसी से मज़ाक करना तो जानते ही नहीं।

इसके उत्तर में तुमने आश्चर्य्य से चकित होकर कहा था—सचमुच? क्या वैसे ही सीधे हैं जैसे चरखे का तकुआ होता है!

इस पर तुम दोनों खूब हँस पड़ी थीं। तुम्हारे उस हँसने और व्यङ्ग से भीगे हुए उत्तर में क्या था, सो समझता हूँ। जिस दिन से यह बात सुनी है, उसी दिन से—हाँ, उसी दिन

से—मेरा यह मानस कुछ अव्यस्थित-सा हो गया है। क्या मैं तुमसे यह पूछ सकता हूँ कि मेरे संबन्ध में तुम्हारा यह आश्चय क्यों था ?

उस दिन बाबूजी ने कहा था—अब तो तुम्हारी परीक्षा भी समाप्त हो गई। तुम्हे फुरसत भी हो गई है, अब सन्ध्या को पढ़ाना शुरू कर दो न। कल भी इसी तरह की कुछ बात-चीत हुई थी, पर मैं उनको कुछ उत्तर नहीं दे सका। क्यों नहीं दे सका, यह कैसे बताऊँ। सोचता हूँ, मैं, तुम्हारे सामने एक गंभीर ट्यूटर के रूप में आ भी सकूँगा ! वैसे तो शायद मैं तुम्हारा ट्यूटर हो भी सकता; पर अब, जब से वह बात सुन ली है, तब से मेरा मन कुछ और हो गया है। मैं तुम्हीं से पूछता हूँ संध्या, अच्छा, यह मेरा मन ऐसा क्यों हो गया है ?

कई बार जी में आया, तुमसे पूछूँ कि, तुमने मुझमें ऐसी कौन-सा बात देखी जिससे उस दिन मेरे संबन्ध में ऐसी बात कह डाली; पर फिर यही सोचकर नहीं पूछ सका कि जाने मैं तुमसे यह सब पूछ भी सकता हूँ या नहीं। आज भी यही प्रश्न मेरे सामने मुसकराता हुआ खड़ा है। क्या ही अच्छा होता, यदि इस प्रश्न का उत्तर मैं अपने मन से ही ले लेता। पर मेरा मन एकदम से अस्थिर जो हो उठा है। अब इसके लिए क्या करूँ ! परन्तु अब भी एक उपाय है ऐसा

और अगर तुम चाहो तो, उसके द्वारा, मैं अपने मन में इस विषय के प्रश्न उठाकर उनका समाधान भी तुरन्त कर सकता हूँ। पर वह उपाय भी मेरे बस का नहीं है। उसका संबन्ध तुम से है। तुम मेरे मन को बाँधकर, कैद करके, रख सकती हो। अच्छा, यदि मैं तुमसे पूछूँ कि क्या तुम ऐसा कर सकोगी, तो ? बोलो, क्या उत्तर दोगी ?

[इस चिट्ठी का उपर्युक्त अंश कई दिनों से लिखा हुआ पड़ा था। न चिट्ठी पूरी होसकी और न उसे तुम्हारे पास भेज सका। अब यह उतनी ताज़ी भी नहीं रही, जैसी उस दिन थी। फिर भी यह तुम्हारे काम की होगी, इसीलिए इसे पूर्ववत् चलने देता हूं।]

बदली के कारण इधर कई दिन तक मैं तुम्हारे घर आ नहीं सका। शाम के वक्त आज जब कुछ आसमान साफ़ हुआ तो कई मित्र अचानक आ पहुँचे और ज़बरदस्ती मुझे लेकर घूमने चल पड़े। जब घूमकर लौटे, तो सिनेमा देखने को जाना पड़ा। रात को क़रीब डेढ़ बजे लौटना हुआ। कल कालेज भी अटैण्ड करना है। फिर भी इस समय जो पत्र लिखने बैठा हूं उसका एक कारण है। इस समय की चिट्ठी में तुम्हें जो बात लिख रहा हूं, इस समय लेखनी की नोक जिन विचारों को अक्षरों के

साँचों में ढाल सकती है, मुझे शक है कि फिर आगे कभी वह उन तक न पहुँच पाती।

इस समय हास्टेल के सभी साथी गंभीर निद्रा में लीन हैं। मेरी आँखें भी उनींदी हो रही हैं, लेकिन इस समय उन्हें विश्राम देना कितना निरर्थक होगा, यह तुमको समझाने की जरूरत नहीं है। बड़ी सरदी पड़ रही है। लिहाफ से सिर निकालने को जी नहीं चाहता। फिर भी वह बात तुम्हें बताये बिना मैं सो भी तो नहीं सकूँगा। मैं जिस कटीले पथ की बात कर रहा हूँ, वह प्रेम-पथ है। तुम शायद इसकी कठोरता तक अभी न पहुँचोगी; लेकिन मैं तुम्हें अभी से सावधान कर देना चाहता हूँ। यह मार्ग बड़ा टेढ़ा, बीहड़ और कटीला है। कहीं ऐसा न हो कि जीवन में कभी तुम इसकी भयानकता से घबरा उठो।

तुम्हारे बाबूजी की इच्छानुसार मैं तुम्हें पढ़ाने के लिए तैयार हो जाता, पर अपनी कमजोरियों के कारण मैं ऐसा नहीं कर सकता एक बार अपनी स्थिति साफ़ कर दूँ, तो आगे बढ़ूँ। कहीं मेरे संबन्ध में तुम्हें कुछ भ्रम न हो जाय, इसीलिए पहले से सावधान कर देना अच्छा है। बात यह है कि मैं एकदम से ग़रीब आदमी हूँ। घर में जो कुछ पूँजी थी, पिताजी ने वह मेरे पढ़ाने में फूँक दी है। इसलिए मैं जो कुछ देख पड़ता हूँ, बस ठीक बिलकुल वैसा ही हूँ। मेरे भीतर-बाहर कुछ नहीं है।

इसलिए देखो, मेरे सबन्ध में कभी कोई ऊँची बात न सोच बैठना। शायद तुम्हारे बाबूजी को भी यह सब कुछ भी नहीं मालूम है। वे क्लास में जब कभी मुझे देखकर मेरी आर्थिक स्थिति का अनुमान लगाने होंगे तो न जाने क्या सोचते होंगे! यदि तुम उनका इस संबन्ध में बतला सकतीं तो कितना अच्छा होता!

यह सब मैं एक विशेष निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए लिख रहा हूँ। जिस प्रकार मनुष्य एक उड़ान भरने का आदी है, उसी तरह वह परिस्थितियों का दास भी है। मनुष्य को भगवान ने जितना स्वाधीन बनाया है, वास्तव में वह उससे भी कहीं अधिक पराधीन प्राणी है। और इसका कारण उसके जीवन की परिस्थितियाँ हैं। पिता अपनी कन्या का विवाह शक्तिभर संपन्न वर के साथ करता है। पर परिस्थितियाँ तो मनुष्य को न जाने क्या से क्या बना डालती हैं। वही संपन्न वर, जिसके संबन्ध में पिता कभी कल्पना करता था कि वह आगे चल कर पहले से भी अधिक संपन्न और सुखी होगा, जब कभी दरिद्र बन जाता है तो कन्या के पिता की मानसिक दशा दयनीय हो जाती है। मैंने ऐसे सैकड़ों उदाहरण पाये हैं, जब इन दशाओं में पिता सदा यही सोचने लगते हैं कि कन्या मेरा आश्रय ग्रहण करे। लेकिन कन्या तब पितृस्नेह के सिवा अपना एक अग्निमय हृदय भी तो रखने

लगती है। वह अपने स्वामी में लीन रहना चाहती है। और स्वामी! हाय वह भी अपने आत्म-सम्मान का ख़ून करके अपनी जीवन-संगिनी को किसी भी तरह जीवित रखना चाहता है! मैंने सुना ही नहीं है, देखा भी है कि इन दशाओं में पिता के घर अपने स्वामी के साथ यथेष्ट आदर-भाव का अभाव देखकर नारी ने अपने जीवन का उत्सर्ग तक कर दिया है।

इसीलिए आज मैं अपनी आर्थिक स्थिति की बात जी खोलकर तुम्हें बताये देता हूं। ख़ूब सोच-समझ लो। मैं परसों पाँच बजे सायंकाल तुम्हारे यहाँ आने का विचार कर रहा हूं। उसी समय यदि अवसर मिला तो तुमसे मिलूँगा।

तुम्हारा ही—भुवन

चिट्ठी लिखकर भुवन ने लेटर-बाक्स के अङ्क में छोड़ दी। अनेक चिट्ठियों के साथ भुवन की यह चिट्ठी भी एक 'सप' शब्द करके मिल गई।

"मूर्ख कहीं का! चिट्ठी लिखकर—और फिर डाक से—भेजने की ज़रूरत ही क्या थी!" भुवन यही एक बार सोच गया। फिर मन ही मन कहने लगा—चलो, जी का बोझ तो कुछ कम हुआ। क्यों जान-बूझकर किसी नारी-रत्न का जीवन कीचड़ में डाला जाय। लेकिन! लेकिन कुछ नहीं। कौन जानता

है, बी० ए० पास हो जाने पर कहीं कुछ ठिकाना लग ही जायगा ! सरकारी सरविस ! नहीं, अपने जीवन के साथ ऐसा घृणित सौदा नहीं करूँगा। फिर ? कहीं-किसी समाचार-पत्र के दफ्तर में एडीटरी करनी होगी। हाँ अच्छा तो है। मेरी सन्ध्या को और न सही, एक सम्पादक की स्त्री बनने का तो सौभाग्य प्राप्त होगा। टेबिल पर नयनाभिराम चित्रोंवाली पत्रिकाओं का ढेर देखकर सध्या कितनी प्रसन्न हुआ करेगी ! धीरे-धीरे, सम्भव है, उसे लेखनी की क्रीड़ा का चसका लग जाय—सम्भव है, वह भी लेखिका हो जाय !

भुवन—आशावादी भुवन—महत्त्वाकांक्षाओं के हिंडोलों में झूलने लगा।

[२]

"बाबू किस पर बिगड़ रहे हैं ?"

"और किस पर बिगड़ेंगे ? वही बेवकूफ कलुआ होगा।"

"ये लो ! चपतें तड़ातड़ जमाई जा रही हैं। कलुआ 'दैया रे' 'हाय बाबूजी, अब न मारो" चिल्ला रहा है।" बेवकूफ भी तो है। उसे लाख बार समझाया, जब बाबूजी को क्रोध में देखा कर, तो झट से इधर-उधर हो जाया कर। लेकिन वह जान-बूझकर सामने आ जाता है।"

"लेकिन अम्मा, है बेचारा बड़ा सीधा। मार खा लेता है, पर कहीं दूसरी जगह जाने का नाम नहीं लेता।"

काम कितना करता है! अगर आज कहीं चला जाय, तो उन्हें भी मालूम हो जाय कि नौकर ऐसे होते हैं। क़सूर पड़े तो उसे निकाल बाहर करो, पर यह मारना-पीटना तो ठीक नहीं है।"

"हाय! बेचारा रो रहा है! मुझ से तो उसका रोना नहीं देखा जाता।

"तो जाकर उसे समझा क्यों नहीं आती!"

सन्ध्या उठकर बाहरी कमरे में चली आई। सन्ध्या को सामने देखकर कलुआ और भी सिसककर हिचकियाँ भरने लगा।

दीनानाथ कलुआ की काफी मरम्मत कर चुके थे। लेकिन अभी उपसंहार बाक़ी था। बोले—दुष्ट को हज़ार बार समझा चुका हूँ कि तमाखू न पिया कर। मानता ही नहीं है। साले के मुँह ऐसी बास आती है कि अपने पास बुलाने को जी नहीं चाहता। लेकिन यह गधा मानता ही नहीं है—मानता ही नहीं है! सुअर कहीं का! अब साले बहुत हुसुर-हुसुर करेगा, तो इधर देख ले, इसी जूते से मैं तेरी खोपड़ी तोड़ दूँगा। हरामख़ोर कहीं का!

सन्ध्या बोली—जाने दीजिये, बाबूजी, अब कलुआ तमाखू पीना छोड़ देगा।—अब न पीना रे कभी! समझ गया न! नहीं तो.....।

कलुआ बोला—ये लो, कान पकड़ता हूँ। ईसुर की सौगन्द खाता हूँ, जो कभी तमाखू ससुरी को होठ से लगाऊँ, तो मेरा सत्यानास हो जाय।

दीनानाथ अपने बैठके में जाकर अखबार पढ़ने लगे। वे अखबार पढ़ते जाते थे और कलुआ पर किये गये अपने व्यवहार की आलोचना भी करते जाते थे सच बात तो यह थी कि अखबार तो एक तरह से पढ़ नहीं रहे थे; महज उस पर अपनी तबियत जमाने की चेष्टा कर रहे थे। दो ही पंक्तियाँ पढ़ पाते थे कि आगे की पंक्तियों में उन्हें कलुआ ही खड़ा दिखलाई देता था वे जब कभी कलुआ को मारते थे तो अन्तःकरण से उसका सुधार करने के अभिप्राय से, फिर भी मारने के बाद उन्हें एक तरह की आत्म-ग्लानि होती थी। वे सोचने लगते—मैंने उस पर व्यर्थ ही हाथ उठाया। बेचारा ग़रीब नौकर! एक डाँट ही उसके लिए काफी थी। मारने की जरूरत ही क्या थी।

दोपहर के बारह बज गये थे—कुछ-कुछ बदली हो आयी थी। खूंटी पर ऊनी शाल लटक रही थी। उसे उतारकर तकिये

के सहारे गद्दे पर लेट रहे। सामने घड़ी टिक-टिककर रही थी। पहले तो वे घड़ी की गति की ओर एकटक दृष्टि लगाये रहे, फिर यकायक कलुआ के जीवन पर विचार करने लगे। बेचारा सबेरे से लेकर रात के नौ-दस बजे तक काम करता है और पाता क्या है गिनती के ग्यारह रुपये। उसके घर में उसकी स्त्री है, बूढ़ी माँ है। तीन प्राणियों का जीवन इन्हीं ग्यारह रुपयों पर निर्भर रहता है! वह ख़ुद तो मेरे यहाँ प्रायः बचा-खुचा खाना खा लेता है। इस तरह उसे कभी-कभी अच्छा खाना मिल भी जाता है, पर उसकी घरवाली तथा उसकी माँ भला क्या खाती होंगी! जौ-चने की रोटी, अरहर की दाल, दो-एक लाल मिरचे और बहुत हुआ तो बाज़ार का बनावटी घी! बस यही उनका भोजन है! और कपड़े—कपड़े भी अच्छी तरह वे क्या पाती होंगी! मेरे घर के फटे-पुराने कपड़ों से ही उनका निर्वाह होता है! हाय! बेचारा ग़रीब नौकर! और मैंने उस पर हाथ उठाया!!

इस तरह पहले कलुआ को पीटकर, फिर उसकी ग़रीबी का विचार करते-करते दीनानाथ सो गये।

कलुआ आँसू पोंछ-पोंछकर साबुन उठा लाया और ख़ूब मल-मलकर अपने हाथ धोने लगा। तमाखू पीने के कारण उसके हाथ से ही तो बदबू आयी थी और इसीलिए उस पर मार पड़ी थी! कलुआ, ऐसा जान पड़ता था कि, सारा अपराध

अपने हाथों का ही समझ रहा है! खैर, हाथ धो-धाकर वह उठा और खाना खाने चला गया। संध्या और उसकी माँ कल्याणी दोनों खाना खा चुकी थीं। महराजिन पहले तो कलुआ के न आने पर बक-झक करती रहीं, फिर उसके लिए बचा हुआ खाना ढककर चला जा रहा थीं।

कलुआ ने देखा, महराजिन चली जा रही हैं। इसलिए बिना बोले उससे रहा नहीं गया। वह बोला—अरे-अरे महराजिन कहाँ जा रही हो, इतनी जल्दी! अभी तो ग्यारह भी नहीं बजा है।

"जा रही हूँ जहन्नुम में! तू भी चलेगा? कलमुहाँ इतना कुचला जाता है फिर भी अकिल ठीक नहीं होती!"

"इतनी जल्दी रोटी बना-बनाकर जो रुपया को गठरी जमा कर रक्खी है, क्या करोगी तुम उसको? इस बुढौती में कुछ तो आराम कर लो। कौन बैठा है तुम्हारे जिमके लिए……।

"भलमंसी से चुपचाप खाना खा ले, नहीं तो मैं चैला फेंककर मारूँगा—करेजा जैसा मुँह सूखकर कोहड़े को शकल का हो जायगा! लुच्चा कहीं का।"

महराजिन विनोद-पुराण के ये दो-एक श्लोक सुनाकर चलने लगी। सन्ध्या और कल्याणी ये बातें सुन-सुनकर हँसी के मारे लोट-पोट हो रही थीं। कलुआ खाना खाता जाता था और बीच-

बीच में महराजिन से एक-न-एक ऐसी बात कह देता था कि फूस की ढेरी में वह चिनगारी का-सा काम कर जाती थी। जब कलुआ ने समझ लिया कि अब महराजिन चली ही जायँगी तो बोला--अरे-अरे सुनो तो महराजिन, ज़रा घी-चीनी तो दिये जाओ। दही ज़रा कम मीठा है।

महराजिन फिर लौट आईं। वे चीनी दे ही रही थीं कि कलुआ बोल उठा—तरकारी तो सचमुच तुमने बहुत बढ़िया बनाई है महराजिन।

चाहे जैसी बढ़िया चीज़ें मैं बनाऊँ, लेकिन तनख्वाह में तो गिनती के चार रुपल्ली ही बाबूजी से मिलेंगे। और क्या? मैं तो सच्ची बात कह देती हूँ।

सन्ध्या चुपके से ये सब बातें सुन ही रही थी। बोली—क्या बात है मिसराइनजी?

कुछ नहीं बेटी, यही कलुआ नहीं मानता है। जब से खाने बैठा है, तब से भोजन की तारीफ़ के पुल बाध रहा है।

अब कलुआ से रहा न गया। मुँह का कौर जल्दी से निगलकर कहने लगा—महराजिन कहती हैं कि खाना मैं मर-खपकर चाहे बढ़िया से बढ़िया ही बनाऊँ पर तनख्वाह तो बढ़ती नहीं है। बाज आई मैं ऐसी नौकरी से!

सन्ध्या हँसते-हँसते लोट-पोट हो गई। कल्याणी भी हँसने लगी।

महराजिन उनके निकट आकर बोली--मालकिन, आप इस कलुआ को जानती नहीं हैं। यह बड़ा लुच्चा है, झूठा, दुष्ट, चाण्डाल! यह मेरी रोजी लेना चाहता है। झूठ-मूठ इधर की उधर लगाता है।

इतना कहकर वे बोलीं—मैं अभी बाबूजी के पास जाकर इसकी शिकायत करती हूँ।

सन्ध्या बोली—जाने दो मिसराइनजी, बिचारा आज अभी पिट ही चुका है। मैं जानती हूँ, वह कैसा है। वह और कुछ नहीं है, सिर्फ हँसोड है।

महराजिन बाहर जाती हुई कहती गईं—जाओ बेटी, तुम भी उसीकी तरफदारी करती हो। वह मुझे कितना परेशान करता है! फिर भी कहती हो—हँसोड है। मेरा बस चले तो मैं तो ऐसे बदजात नौकर की नाक ही काट लूँ।

अब आकाश साफ हो गया था। कलुआ खाना खा चुका था। अब वह चौका-बरतन में लग गया। थोड़ी देर बाद सन्ध्या उठकर उधर जाने लगी तो देखती क्या है कि कलुआ धूप में बोरा बिछाये लेटा हुआ सो रहा है!

[३]

भुवन बैठके में आ ही रहा था कि सन्ध्या अन्दर जाने लगी। भुवन बोला –सुनो, सुनो, तुमसे एक काम है।

सन्ध्या सिर नीचा किये हुए बोली—क्या? जल्दी बतलाइये, बाबू आ रहे होंगे।

तो क्या होगा? आने दो। कोई चिन्ता की बात नहीं है। पूछना यह है कि मेरा पत्र मिल गया?

"हाँ, मिल गया। लेकिन... ।"

"लेकिन क्या?"

"आप इस तरह का पत्र न लिखा करें तो अच्छा हो। अगर वह बाबू के हाथ में पड़ जाता तो!"

उनके हाथ में पड़ जाता तो भी कुछ हर्ज न होता, यही सोचकर वह लिखा गया है।

"फिर भी, मेरी आपसे यही प्रार्थना है कि...!...आप इस प्रकार का पत्र न लिखा करें।"

"अच्छी बात है।"

भुवन की मुख-मुद्रा गम्भीर हो गई। उसके जी में आया कि वह उठकर हास्टेल की ओर चल दे, लेकिन प्रोफेसर साहब से मिले बिना कैसे जाय, यही सोचकर भुवन बैठा रहा।

दीनानाथ बाबू बैठके की ओर मुड़ते ही मुसकराते हुए बोले—अच्छा, आप आ गये। सन्ध्या के लिए आप कब से समय देंगे, कुछ तै किया? [कलुआ-ए कलुआ, चार बीड़े पान ता लेआ।]

भुवन ने उसी तरह गम्भीरता-पूर्वक उत्तर दिया—आजकल तो समय निकलना जरा कठिन है।

दीनानाथ बाबू सोचते थे, तो फिर कह दूँ, अच्छी बात है। जाने दीजिये, आप ही ने कहा था, कोई ट्यूशन बतलाइये। अन्यथा मुझे तो कोई वैसी जरूरत था नहीं। जरूरत होती भी तो मिस जुत्शी को इंगेज कर लेता। लेकिन बात तो और थी, दीनानाथ बाबू इस तरह का उत्तर कैसे देते! वे बोले—अच्छा तो हफ्ते में दो दिन ही एक-एक घंटा दे दिया करें। इतना समय तो आप निकाल ही सकते हैं। इसके सिवा आपको आवश्यकता भी थी।

"पहले मैंने वैसा विचार जरूर किया था। पर अब देखता हूँ, मेरी स्टडी में बाधा पड़ेगी। खर्चे की तंगी तो होगी, पर किसी तरह काम चलाऊँगा।"

प्रोफेसर साहब अब क्या कहेंगे; भुवन यह जानने के लिए उनके मुख की ओर टकटकी लगाकर देखने लगा।

दीनानाथ बाबू बोले—यदि आप समय नहीं दे सकते, तो

न सही, पर रुपये-पैसे के लिए तंग न होइयेगा। यह आपका घर है, आपकी साधारण आवश्यकताओं की पूर्ति तो मैं कर ही सकूँगा।

भुवन का हृदय अब पिघलकर पानी हो गया। दीनानाथ की ओर जिस मिथ्या दम्भ से वह देख रहा था, उस पर वह स्वयं लज्जित हो उठा। चश्मा उतारकर उसके केस में से सफेद-सफेद मुलायम मखमल का टुकड़ा निकालकर, उससे शीशे पोंछते हुए, सोचने लगा—इनकी इस उदार भावना के लिए धन्यवाद तो बहुत छोटी चीज़ है। फिर ?

दीनानाथ बाबू बोले—और इसके लिए आप किसी तरह का संकोच न कीजियेगा।

भुवन से कोई उत्तर न बन पड़ा। वह कुछ कहना चाहता था, लेकिन कह नहीं पाता था।

कलुआ पान लिये सामने उपस्थित था। दीनानाथ ने पान लेकर दो बीड़े भुवन को दिये, दो स्वयं खाते हुए वे कलुआ से पूछने लगे—खाना तैयार होने में क्या देर है ?

"तैयार हो रहा है, अभी थोड़ी कसर है।" कलुआ ने उत्तर दिया।

अब दीनानाथ बाबू भुवन से कहने लगे—आप को भी खाना बनाने को कहे देता हूँ।

भुवन—लेकिन मेस में भी तो बन रहा होगा।

दी०—तो आज वहाँ न खाइयेगा।

भुवन संकोच में पड़ गया। फिर बोला—अच्छी बात है। ऐसा ही करूँगा।

दीनानाथ अन्दर जाकर कल्याणी से कुछ बात-चीत करने लगे।

---

[४]

भुवन जब हास्टेल जाने लगा तो उसके हृदय में हलचल मची हुई थी। सन्ध्या की वह लजीली चितवन, उसकी मीठी स्वर-लहरी क्षणभर को भी स्थिर नहीं रहने देती थी। लेकिन भुवन ने कैसे अच्छे संयोग को खो दिया! मूर्ख कहीं का! उसने सन्ध्या को पढ़ाने के लिए कुछ भी समय देने से साफ़ इनकार कर दिया। लेकिन सोचते-सोचते क्षणभर बाद भुवन अपने इस उत्तर में विवेक-शीलता का अनुभव करने लगा। वह बार-बार यही सोचने लगा—मैं सचमुच सन्ध्या के योग्य नहीं हूँ। स्वप्नों के पलनों में पली सन्ध्या भला मेरे साथ क्या सुख पायेगी! कितना अच्छा हुआ कि मैंने प्रोफेसर साहब के घर से अधिक घनिष्ठता हो सकने का जो एक मात्र कारण था, उसी को ठुकरा दिया!

इसीलिए वह मन ही मन बहुत खुश था। सोचता था—वह देखने, हँसकर दो-चार मिनट बातें कर लेने भर की चीज है। उस मदिरा की-सी नशीली, सुखद स्वप्नों की-सी प्रतिमा, को पाकर मैं भला करूंगा क्या! नहीं भुवन, तुम उसका खयाल छोड़ दो।

ज्योंही भुवन अपने कमरे में दाखिल हुआ, त्योंही उसका मित्र त्रिवेणी आ पहुँचा। कुछ-कुछ कजरा आँख, गोरा इकहरा बदन, नजाकत भरा हुआ लखनौआ लिबास। यकायक कंधे पर हाथ रखकर बोला—इस वक्त ऐसी आहिस्तगी और इतमीनान के साथ हुजूर की सवारी कहाँ से आ रही है?

"प्रोफेसर साहब के यहाँ से।"

"मालूम होता है, वहाँ भी नोंक-झोंकवाली परी से आपकी आँखों का युद्ध……।

भुवन ने कुछ कहा नहीं, अत्यन्त गम्भीर होकर अपने मुख को जरा शुष्क बना लिया। अचकन उतारकर उसने खूटी पर टाँग दी। एक शाल ओढ़कर चारपाई पर बैठते हुए उसने कहा—हाँ, अब आप फरमाइये।

त्रिवेणी—पहले यह बतलाइये, प्रोफेसर साहब के यहाँ जो आप अकसर चक्कर लगाया करते हैं, इसका क्या कारण है?

भुवन—कारण क्या है, प्रोफेसर साहब मुझको अपने लड़के की तरह मानते हैं, मुझसे मुहब्बत रखते हैं, इसीलिए मैं भी फुरसत के वक्त उधर चला जाता हूँ।

इसी समय गोकुल (मेस का नौकर लड़का) ने आकर पूछा—बाबू खाना ले आऊं।

भुवन—मैं खाना खा चुका हूँ।

अब त्रिवेणी मुसकराते हुए बोला—अच्छा तो आप वहाँ से खाना भी खा आये हैं! यह बात है!!

भुवन—इसमें आश्चर्य की कौन सी बात है?

त्रिवेणी—मैं तो देखता हूँ, दुनियाँ में कोई आश्चर्य की बात ही नहीं है। हँसते-खेलते, इधर-उधर की दो-चार बातें करते-करते, अकस्मात् और अनजान में ही अनेक लड़कियों के हमल रह जाते हैं और कहीं कोई आश्चर्य की बात नहीं होता। फिर भला प्रोफेसर साहब के यहाँ आपके खाना खा लेने में आश्चर्य की कौन-सी बात हो सकती है!

भुवन का मुख एकदम से तमतमा उठा। आरक्त आँखों से त्रिवेणी की ओर देखते हुए उसके मुँह से निकल गया—नान्सेन्स! तुमने मुझे गुण्डा समझ रक्खा है त्रिवेणी! मैं इस तरह की बात सहन नहीं कर सकता!

त्रिवेणी उछलकर, त्योरी बदलकर, आगे बढ़ता हुआ

बोला—और मैं तुम्हारी गाली सहन कर सकता हूँ। अपने होश की दवा करो समझे!—नहीं तो मैं..." कहते हुए त्रिवेणी अपने कुरते की आस्तीन ऊपर चढ़ाने लगा।

बात बढ़ गयी थी। देखते-देखते और भी अनेक साथी इकट्ठे हो गये। लोग कहने लगे—वाह! भई वाह!! एजूकेटेड लोगों में भी इस तरह की गाली-गलौज और हाथा-पाई हो, यह तो—मैं एक को नहीं कहता—इस लोगों के लिए शर्म की बात है।

भुवन को उसके साथी दोनों ओर से पकड़े हुए थे; वह उनसे छूटने के लिए छटपटा रहा था और कहता जाता था—विष के घूंट सा पी गया; नहीं तो मैं—मैं तो तुम्हारा खून पी जाता! तुमने मुझे समझ क्या रक्खा है! आप बड़े मसखरे बनते हैं, लेकिन मज़ाक करने और मसखरापन दिखलाने का भी एक वक्त होता है। जब आप किसी के मूड को नहीं पहचान सकते; तब आप की यह शिक्षा-दीक्षा किस काम की? आप को शर्म आनी चाहिये जनाब!

एक साथी ने पूछा—बात क्या हुई भुवन बाबू!

भुवन बोला—क्या बताऊं भाई साहब! मेरी ज़बान से तो वे अलफ़ाज़ निकल ही नहीं सकते, जो इन्होंने कहे थे। अरे आपस की बातचीत में कुछ तो शराफ़त का खयाल रखना

चाहिये। लेकिन किसी की भी बात हो, कोई किसी का कितना ही आत्मीय क्यों न हो, आप भद्दी-से-भद्दी मज़ाक करने से कभी न चूकेंगे।

किसी ने कह दिया—अगर यह बात है, तब तो वाक़ई ग़लती त्रिवेणी की ही मालूम होती है।

त्रिवेणी ने भी बात का पहलू बदलकर कहा—बात कुछ भी हो, आप सब को इस तरह दर्द-सिर पैदा करने की क़तई ज़रूरत नहीं है। आपस की बात ठहरी, आप लोगों से कैसे बतलाई जाय। अपना-अपना काम कीजिये। हम लोग दोस्त ठहरे, आपस में हंसेंगे-रोयेंगे—लड़ेंगे या मरेंगे, कुछ भी करेंगे।

कुछ लोग इधर-उधर होने लगे। तब तक एक बोल उठा—लेकिन इन सब बातों के लिए जनाब यह हास्टेल नहीं है।

त्रिवेणी—हास्टेल किस वास्ते है, यह मुझे आप से जानने की ज़रूरत नहीं है। ग़लती सब से होती है, मुझ से भी हो सकती है; लेकिन इस तरह आपे से बाहर हो जाने की ज़रूरत तो क़तई न होनी चाहिये।

भुवन अपने कमरे में चला गया था। दो-एक साथी त्रिवेणी को ही घेरे हुए उससे बातें कर रहे थे। एक ने जवाब दिया—लेकिन-लेकिन अ-आ आप भी तो...!

त्रिवेणी तब तक फिर बोल उठा—लेकिन-वेकिन कुछ नहीं । मान लीजिये, मेरा ही क़सूर था । फिर ? तो क्या भुवन के लिए यही उचित था ! और आप मेरी क्या बात करते हैं । मेरी तो आदत है—

"छेड़ में कुछ तो है मज़ा, वरना कोई सताये क्यों ?"

मैं अगर मज़ाक करता हूँ तो दो बातें सुनने का भी हौसला रखता हूँ । अगर इस बात पर भुवन मुझे मार भी बैठता; तो भी आप दे खते—मैं उसका जवाब न देता । वह तो वक़्त की बात कह लीजिये कि मुझे भी ग़ुस्सा आ गया ।

साथी लोग अपने-अपने रूम की ओर जाने लगे, त्रिवेणी भुवन के कमरे की ओर चल दिया । उसे भुवन के कमरे की ओर जाते देख त्रिवेणी का एक साथी भी पाछे से उसके साथ हो लिया ।

भुवन का कमरा बन्द था । त्रिवेणी ने किवाड़ के शीशे को उंगुलों से कुट-कुट करके उसे खोलने का इशारा किया । भुवन ने किवाड़ खोल दिये ।

त्रिवेणी ने अन्दर प्रवेश करते ही कहा—मैं नहीं जानता था कि आप इस क़दर भरे हुए हैं कि एक साधारण-सी बात में इस तरह उबल पड़ेंगे । आश्चय है, आपकी ज़बान से यह निकला कैसे कि मैं तुम्हारा ख़ून पी जाता ! इस समय मैं

अपना ख़ून ही तुम्हें पिलाने के इरादे से आया हूँ भुवन। मेरे ख़ून से अगर एक दोस्त का कलेजा सन्तुष्ट हो सके, तो मैं अपना बड़ा सौभाग्य समझूँगा।

धीरे-धीरे भुवन का क्रोध कम हो रहा था। वह स्वतः भी अपने इस आकस्मिक क्रोध-प्रदर्शन के उचितानुचित भाव की समीक्षा करने लगा था। इस पर इस समय त्रिवेणी के इस आघात से तो वह एकदम से तिलमिला उठा।

भुवन कुछ क्षणों तक मौन रहकर बोला—मुझे क्षमा करो त्रिवेणी, सचमुच मैं तुम्हारे जैसे निर्भीक किंवा उदार हृदय मित्र से मित्रता रखने की क्षमता में, देखता हूँ, एकदम अयोग्य सिद्ध हो रहा हूँ।

कुछ क्षणों तक फिर किसी ने कुछ नहीं कहा।

अन्त में भुवन ने ही फिर कहा—इस समय मैं आप लोगों की बातचीत में और अधिक योग न दे सकने के लिए क्षमा चाहता हूँ।

'अच्छा बात है' कहकर त्रिवेणी अपने साथी सहित उठकर चला आया।

[५]

रात के ग्यारह बज रहे थे, फिर भी भुवन अपनी चारपाई पर करवटें बदल रहा था, वह कभी दीनानाथ बाबू की स्थिति

और अपने व्यवहार की आलोचना करता, कभी संध्या की बात सोचता और कभी त्रिवेणी से बात की बात में निरर्थक कहा-सुनी हो जाने की समीक्षा करता। दीनानाथ बाबू को वह श्रद्धा की दृष्टि से देखता था और उनकी किसी इच्छा को पूरी न करने का संकल्प मन में आते ही अवज्ञा के अपराध से वह यकायक काँप उठता; पर अपने उज्ज्वल भविष्य की उत्कट लालसा को आघात पहुँचते देखकर अपनी नज़रों में वह अपने आप गिरने लगता था। कभी वह अपने संकल्प को अधिक महत्व देने की बात सोचता, तो कभी दीनानाथ बाबू की कामना की विवेचना करते-करते संध्या की ओर जा बैठता। इतना ही नहीं, कभी-कभी अपने इस संकल्प-विकल्प और उलझन के बीच में अपने आप को डालकर वह मन ही मन कह बैठता—मैं भी अजीब पहेली हूँ—लेकिन मैं पहेली भला क्या हूँ!—मैं तो एक नौजवान विद्यार्थी मात्र हूँ। पढ़ने आया हूँ, पिताजी की आशाओं का गम्भीर उत्तरदायित्व लेकर, अपनी माँ के सुनहले स्वप्नों का संसार बनाने। ठीक है भुवन, यही ठीक है

यही सब सोचते-विचारते भुवन सो गया। जब कभी उसकी नींद टूटी, तब तो उसे ऐसा आभास हुआ, जैसे एक ओर तो मुझे संध्या एक झरोखे में देख रही है,

और दूसरी ओर उसकी माँ आशा लगाये उसकी प्रतीक्षा कर रही है !

आज भुवन ज़रा देर से उठा था। अपने कमरे का द्वार खोलकर वह बैठा ही था कि दतून करते हुए त्रिवेणी उधर ही आता हुआ देख पड़ा। दोनों में प्रातःकाल का नमस्कार होने के बाद त्रिवेणी भुवन के कमरे में एक कुरसी पर बैठ गया। उसकी आँखें कुछ-कुछ लाल थीं, रात में उसे भी नींद कम आयी थी। वह कुछ कहना चाहता था, लेकिन किस ढंग से वह बात शुरू करे, इसी द्विविधा में चुप था। जो त्रिवेणी भुवन से हर समय हर तरह की बातें करने का अभ्यासी रहा है, वही—आज वही त्रिवेणी—अपने आप को इतना भी स्वाधीन नहीं पा रहा है ! सदैव वह भुवन से जिस ढंग से मिलता आया है, कल भी वह उसी ढंग से मिला था। फिर ऐसा क्या बात हो गई, जिसके कारण भुवन जैसा धीर गम्भीर मित्र उससे यकायक इतना रुष्ट हो उठा। यही सोचते-विचारते उसकी आँखें भुवन के मुख पर अटक गयीं। इसी समय मेस का लड़का गाकुल चाय का प्याला तश्तरी में रखकर सामने आ गया ! लौटते हुए त्रिवेणी से कहता गया—आप को भी यहीं लिये आता हूँ।

भुवन ने एक ठब्बे में से कुछ बिस्कुट निकालकर एक

तश्तरी में रख लिये। एक बिस्कुट गरम चाय में डुबोते हुए भुवन ने कहा—लो, खाओ।

त्रिवेणी न चाहते हुए भी मुसकरा दिया। बोला—जो चाहता है, तुम्हारा मुँह नाच लूँ।

भुवन ने भी उसी तरह मुसकराते हुए कहा—इरादा तो कुछ विशेष बुरा नहीं प्रतीत होता!

त्रिवेणी बोला—मैं अब तक आप को समझने का जो गर्व रखता था, वह कल मिथ्या होकर फूट पड़ा। ऐसा जान पड़ा, जैसे मैं आप से दूर—बहुत दूर—ही बना हुआ हूँ।

भुवन चुप था। उसके हाथ का बिस्कुट भी चाय में गलकर उसी में मिल गया था। उसके मुख पर तीक्ष्ण दृष्टि डालते हुए त्रिवेणी फिर कहने लगा—मैंने अनेकबार मन ही मन तुम्हारा जैसा साथी पाने का अभिमान किया है; लेकिन जान पड़ता है, मेरे उस अभिमान पर स्वयं मेरी ही नजर लग गयी।

त्रिवेणी का मुख लाल हो उठा था। उसकी ओर देखकर भुवन चकित-स्तम्भित हो उठा। उसने भी रात को करवटें बदलते हुए त्रिवेणी की परिस्थित पर विचार किया था। पर इस विषय में उसका अन्तर्दृष्टि इतनी सूक्ष्मता की ओर अग्रसर न हो सकी थी। इस समय त्रिवेणी की प्रभाव-धारा में वह डूबने उतराने-सा लगा।

त्रिवेणी कहता जा रहा था—मैं सोचता था, जैसे मैं अपने मन की बात आपसे छिपाकर नहीं रख सकता, वैसे ही आप भी मुझे अपने जीवन से मिलाकर ही रखेंगे, और इसीलिए जिस तरह मैं सहज स्वभाव से, निश्छल निर्मल मन से, बात-चीत किया करता था, उसी तरह कल भी बातें करने लगा था। लेकिन पीछे से आपका जो स्वरूप देखा, वह बन्धुवर भुवन का-सा न था ?

भुवन के मन में आया कि वह कह दे—भुवन क्या है, यह तुम्हें बतलाना न होगा, फिर भी तुमने उस पर सन्देह करके फ़िक़रेबाजी की ! क्या अब वह इतना पतित हो गया है कि उस पर इस तरह के चरित्र-सम्बन्धी घृणित सन्देह किये जायँ ! छिः त्रिवेणी ! तुमसे ऐसी आशा तो उसे न थी।

उसने कहा—कल मेरा जो ठिकाने नहीं था; आज भी नहीं है। इसलिए आप मुझ पर जो कुछ भी चार्ज लगाना चाहें, लगा सकते हैं।

इसी समय गोकुल त्रिवेणी के लिए भी चाय का प्याला ले आया और उसके सामने रखकर चला गया।

त्रिवेणी कुछ उत्तर न देकर चाय पीने लगा।

भुवन ने कहा—प्रोफेसर दीनानाथ को आप जानते हैं, मैं उन पर कितनी श्रद्धा रखता हूँ, यह भी आप से छिपा नहीं

है। कुछ ऐसी बातें हो गईं कि कल उनके यहाँ से लौटते-लौटते मन कुछ उद्विग्न हो उठा।

त्रिवेणी—क्या उद्विग्न हो उठा था ? ज़रा सुनूँ तो।

प्रोफेसर साहब मुझे एक ट्यूशन दिला रहे थे, मैंने इनकार कर दिया। पीछे से इनकार करने पर मुझे अपना यह व्यवहार कुछ अच्छा नहीं लगा।

भुवन इतना कहकर त्रिवेणी की ओर देखने लगा।

त्रिवेणी चाय का प्याला खाली करते हुए बोला—यह तो एक साधारण-सी बात है, इसमें उद्वेग भला कहाँ से आ सका !

भुवन मन ही मन त्रिवेणी के बात-चीत के ढँग की आलोचना करते हुए बोला—इसी बात-चीत में मुझे कुछ ऐसा आभास हुआ, जैसे मेरा उत्तर उन्हें खटक गया।

त्रिवेणी—आपने क्या उत्तर दिया था ?

भुवन—शब्द तो मुझे ठीक-ठीक याद नहीं; पर आशय यही था कि समयाभाव के कारण मैं असमर्थ हूं।

त्रिवेणी—क्या उस ट्यूशन से प्रोफेसर साहब का कुछ निजी सम्बन्ध था ?

भुवन—सम्भव है, हो।

त्रिवेणी—आपको मालूम नहीं है ?

भुवन—न।

त्रिवेणी—उन्होंने बतलाया भी नहीं ! और आपने यह पूछा भी नहीं कि किसका है ?

भुवन—हाँ।

त्रिवेणी अब तक बिलकुल निर्मल मन से बात-चीत कर रहा था। पर भुवन की इस बात से उसका मुख अत्यन्त गम्भीर हो गया।

"तब ज़रूर आप उद्विग्न हो सकते हैं" कहकर त्रिवेणी भुवन के यहाँ से उठकर चला गया।

[६]

कई दिनों तक भुवन प्रो० दीनानाथ के घर नहीं गया। उसके मन में एक सन्देह पैठ गया था। वह सोचा करता—जान पड़ता है, सन्ध्या मुझे चाहती नहीं है। चलो, छुट्टी हुई। अच्छा तो हुआ। अब जी लगाकर पढ़ना तो होगा। वैसे पढ़ना-लिखना तो भला क्या होता ! हाँ, पढ़ने का अभिनय हुआ करता।

एक दिन वह चौक से अपने हास्टेल को पैदल ही आ रहा था। रात हो गई थी। कचहरी की ओर जाती हुई सड़क पर

यत्र तत्र दो-एक ही इक्के आते-जाते देख पड़ते थे। चौराहे से घूमकर वह म्योरा स्टेलवाली सड़क पर जा रहा था। यकायक साइकिल पर जाते हुए एक युवक सामने आ निकला। झट से उसने एक छपा हुआ नोटिस भुवन की ओर फेंक दिया। नोटिस जमीन पर गिर ही रहा था कि भुवन ने उसे हस्तगत कर लिया। आगे ही सड़क की ओर बिजली की बत्ती का खम्भा था। भुवन उसी खम्भे के नीचे खड़ा होकर उस नोटिस को पढ़ने लगा। उसमें छपा हुआ था—

आवश्यकता है कुछ ऐसे नवयुवकों की, जो उन परिवारों की सेवा करने में अपना समय और रुपया देने को तैयार हों, जिनके बच्चों ने राष्ट्रीय यज्ञ में अपने जीवन की आहुति दी है। क्या तुम यह कार्य कर सकोगे? यदि हाँ, तो अमुक स्थान पर अपना पता लिखकर छोड़ जाओ। दूसरे दिन प्रातः तुमको अपने कर्तव्य का आदेश मिल जायगा।

भुवन ने इस नोटिस को तहाकर अपनी जेब में रख लिया। एक प्रकार के आवेश से उसका हृदय आप्लायित हो उठा। वह सोचने लगा—एक दिन आयेगा, जब हम अपने बच्चों से इस युग की कहानियाँ सुनायेंगे। सारी कथा सुन लेने पर जब हमारी सन्तान—हमारे छोटे-छोटे भोले बच्चे—छेंगे—बाबा, जब ऐसा समय था, तब तुम क्या करते थे!

भुवन यह सोचकर दिल मसोसकर रह गया। कोई उसके कानों में कहने लगा। कह देना--हम उस समय अपने कर्तव्य से गिरे हुए थे। पिताजी जमीदार थे। हम मौज के साथ कालेज में पढ़ते और गुलछर्रे उड़ाते थे!

इसी समय एक गली से टॉर्च (बिजली-बत्ती) का उवलन्त आलोक देख पड़ा और फिर बात की बात में अन्तर्हित हो गया। भुवन कुतूहलवश सीधा सड़क पर न जाकर उसी गली की ओर मुड़ गया। अबकी बार फिर भुवन के मुख पर वह क्षणिक आलोक झलक पड़ा। भुवन को अब निश्चय हो गया कि इस गली में अवश्य कोई विशेष बात है। आगे बढ़ने पर उसे एक युवक खड़ा हुआ मिला। भुवन जब उसके निकट पहुँच गया तो वह युवक फिर उसको एक नोटिस देने लगा।

भुवन बोला—मैं यह नोटिस पा चुका हूं।

अपनी गति जरा मन्द करके, वरन् एक क्षण को खड़ा होकर, भुवन ने फिर कहा--आप यहाँ खड़े क्यों हैं? यह स्थान तो निरापद नहीं है।

उस युवक ने उत्तर दिया--इस सूचना के लिए धन्यवाद। मैं एक व्यक्ति की प्रतीक्षा में हूँ कृपया आप आगे बढ़ जायँ, नहीं तो वह व्यक्ति यहाँ शीघ्र न आ सकेगा।

भुवन को यह जानकर प्रसन्नता हुई कि उस युवक ने

मेरा विश्वास किया। फिर वह सोचने लगा—इतना तो जानता ही होगा कि मै कालज का देशभक्त विद्यार्थी हूँ...इसी से तो। नहीं तो भला वह उस जगह खड़ा ही क्यों मिलता।

भुवन अभी युनिवर्सिटी-रोड पर पहुँचने ही वाला था कि उसने देखा—चारो ओर से पुलिस-कानस्टेबिल्स एक मकान को घेरे हुए हैं। तत्काल वह समझ गया कि उस मकान की तलाशी ली जा रही है। भुवन अब धीरे-धीरे चलने लगा। पास ही के एक मकान में बैठा हुआ एक बुड्ढा बड़बड़ा रहा था—यह गान्धी...जो कुछ न करे सो थोड़ा है। चैन से, शान्ति के साथ, बैठकर भगवान का नाम लेने में भी, आफ़त है।...जब द्याखौ तब यहै सुनाई देत अहै, फलनवाँ के घर-तलाशी हो रही है, फलनवाँ पकड़ लीन गवा, फलनवाँ का सज़ा ह्वैगै। सुराज सासुर जब होई तब होई, हियाँ तो अबै जान कै आफति लागि रहत है।

बुड्ढा सिपाही एक नीम की जड़ के पास बैठा हुआ उँघा रहा था। दूसरे ने धक्का दिया तो चौंककर उठ बैठा। बोला—एँ! क्या हुआ? क्या गो...।

उसे जवाब मिला—ड्यूटी पर होकर ऊँघ रहे हो दादा, डिप्टी साहब देख लेते तो अभी चमड़ी उधेल दी जाती।

सिपाही बोला—ऐसा-तैसा उस डिप्टी की। जान पर खेल

जाता। मैं किसी...को कुछ नहीं समझता। काम ही लेंगे कि जान लेंगे। बड़ा लड़का मुदर्रिस हो गया है। इस नौकरी के भरोसे नहीं हूँ। घर पर खाली हाथ बैठकर भी शाम तक रोटी खाकर सो सकता हूँ। बेटा तो कई बार कह चुका है! पर मेरा ही जी नहीं मानता।

भुवन और आगे बढ़ आया। ३-४ आदमी एक कमरे में बैठे हुए काना-फूसी कर रहे थे। भुवन को उधर से आते हुए देखकर एक ने पूछा—क्यों भाई साहब, सुनते हैं, लाला दरबारी-लाल के यहाँ तलाशी हो रही है। क्या कुछ कारतूस भी बरामद हुए?

भुवन ने कहा—मुझे कुछ नहीं मालूम। मैं तो सीधा चला ही आया, कहीं ठहरा नहीं।

भुवन ने चलते हुए सुना—समय की गति है, भगवान की लीला! लालाजो के बड़े लड़के का अभी ब्याह हो आया है। बहू की रुखसत भी नहीं हुई। पहले लड़का गिरफ्तार हुआ, अब आज घर में फिर तलाशी हो रही है। शिव शिव!!

भुवन अपने कमरे में पहुँचकर चारपाई पर लेट रहा। आज उसका चित्त अस्थिर था। इस समय राष्ट्र के जीवन की समस्या उसके अन्त करण में हुलस-हुलसकर आन्दोलित हो रही थी।

[७]

उस दिन संध्या भुवन बाबू से यह कहते कह तो गई, पर उसे थोड़ी देर बाद अपनी यह रुखाई अच्छी नहीं लगी। भुवन को जिस समय से उसने देखा था, उसी समय वह उसकी अन्तरात्मा में एक प्रकार की हिलोर मचाते रहने का कारण हो गया था। नारी-स्वभाव की लज्जा ही असल में उसमें इतनी प्रबल थी, जो बार-बार उसकी आँखों को भुवन तक पहुँचाने में निरन्तर बाधक होती थी। जितनी देर तक भुवन उसके घर में रहता, संध्या उतनी देर कोई काम न कर सकती थी। एक बार भुवन से बात-चीत करने को उसका मन-मयूर नाच उठता था। पर अपनी ओर से कोई भी दर्शन-संयोग उपस्थित करने में वह सदा डरती रहती थी। भीता हरिणी की भाँति वह सदा सतर्क आँखों से इधर-उधर ताकती रहती थी। कहीं उनकी ओर दृष्टिपात करते हुए उसकी माँ अथवा उसके बाबू देख न लें, यही भय सदा उसके हृदय में समाया रहता था। उधर कल्याणी अपनी इस बिट्टी की शरमीली गति-विधि पर चकित रहती थी। वह हृदय से चाहती थी कि सन्ध्या भुवन से मिलने-जुलने लगे। जब कभी वह ऐसे संयोग भी उपस्थित कर देती थी।

जब कई दिनों तक भुवन दीनानाथ बाबू के यहाँ नहीं

आया तो संध्या ने निश्चय-पूर्वक यही समझ लिया कि वे मुझसे नाराज़ हो गये हैं।

सायंकाल के साढ़े छै बजे थे। कटरा-रोड पर से एक बरात निकल रही थी। संध्या तिखण्डे पर बैठी हुई डी० यल० राय का नूरजहाँ नाटक पढ़ रही थी। नाटक पढ़ते-पढ़ते, रह-रहकर, उसे भुवन की याद आजाती थी। कितने दिन हो गये, पर आये नहीं, भला क्यों नहीं आये? मैंने कोई वैसी बात तो कहीं न थी। यही तो कहा था कि अभी मुझे ऐसी चिट्ठी न लिखा करो। इसमें मैंने कौन-सा अनुचित बात कह दी था, जो इसका बुरा मान गये कि आना-जाना ही छोड़ दिया। वास्तव में पुरुषों का हृदय बड़ा कठोर होता है!

इसी समय पास ही के एक जामुन के वृक्ष पर कोइलिया बोलने लगी। उसकी 'कुऊ'-'कुऊ' की पुकार संध्या ध्यान से सुनने लगी। वह सोचने लगी—हम लोगों से तो ये पक्षी ही भले! कितने स्वाधीन हैं? इनके सभी काम नियमानुसार तो होते जाते हैं। यहाँ भारतीय नारी अविवाहित अवस्था में चाहे जीवन भर समाप्त कर दे, पर किसी से भी प्रेम प्रकट करने का उसे अधिकार नहीं है। इतने में कोयल फिर बोली—'कुऊ'! संध्या को अबकी बार ऐसा जान पड़ा, जैसे वह अपने किस प्यारे को पुकार रही हो।

आज संध्या का हृदय बार-बार उसके मन को ठेल-ठालकर भुवन की ओर खींच रहा था। कभी मन में आता, भुवन को चिट्ठी लिखूँ, कभी सोचती—उन्हें बुला भेजूँ। पर ये मन्तव्य उपस्थित होते हुए उसका हृदय प्रकंपित हो उठता था। देखते-देखते संध्या ने नूरजहाँ नाटक के कई पृष्ठ उलट डाले। अन्त में जब उसने सचेत होकर यह जानने की चेष्टा की कि इन पृष्ठों में उसने क्या-क्या पढ़ा, तो उसे अपने इस निरर्थक प्रयत्न पर आपही आप हँसी आ गई। वह कहने लगी, मैं भी खूब हूँ—नूरजहाँ के साथ खेल करती हूँ !

मिसराइन खाना बना चुकी थीं। कल्याणी ने पुकारकर कहा—अरे आज क्या खाना खाने की भी सुध नहीं रही ? मन ही मन कहने लगी—अजीब क़िस्म की लड़की है—पढ़ते वक्त खाना-पीना तक भूल जाती है ! फिर बोली—चल तो, बाबू के साथ खाना खा ले। वे खाने को बैठ गये।

कल्याणी ने अपनी समझ से यह बात इतनी ज़ोर से कही थी कि संध्या ने उसे पूरी तरह सुन लिया था। पर फिर भी कल्याणी ने कलुआ को उसे बुलाने के लिए भेज ही दिया। कलुआ आकर कहने लगा—माँ जी खाना खाने के लिए आप को बुला रही हैं। बाबू जी बैठ गये।

संध्या ने कहा—अभी तो मुझे भूख नहीं है। मैं इस समय खाना नहीं खाऊँगी। जाकर कह दे।

कलुआ चला गया। उसने कल्याणी से संध्या का जो उत्तर कहा, उसे सुनकर कल्याणी एक दम चौंक पड़ी! बोला—ऐं! क्या कहा?—भूख नहीं है! क्य भूख नहीं है भला? क्या कुछ तबियत ख़राब है?

अब कल्याणी बैठी न रह सकी। संध्या के निकट आकर पहले उसने उसकी देह पर हाथ धरकर देखा, फिर मस्तक की पीड़ा का भान करके उसके मस्तक पर हाथ रक्खा। बोली—जान पड़ता है, सिर में दर्द है। पढ़ाई-लिखाई भी तो ब मनमाने ढँग से करती है। दिन भर स्कूल में पढ़ती है, फिर भी जब देखो तब यहाँ भी पढ़ा ही करती है। मैं पूछती हूँ, तुझे इतना अधिक पढ़ने का ज़रूरत ही क्या है? अच्छा अब यह किताब मुझे दे। चल तो, सिर में दवा की मालिश करदूँ।

संध्या कल्याणी के प्यार के मारे तंग रहती थी किसी भी समय अगर ज़रा-सी भी तबियत ख़राब हो ज ती, तो कल्याणी फिर उसके पीछे पड़ जाती थी। इस समय भी संध्या एक प्रकार की परेशानी का ही अनुभव कर रही थी। वह चाहती तो यह थी कि कोई उससे बोले नहीं, इसीलिए उसने खाना खाने से

इनकार कर दिया था। पर जिस उपाय का उसने प्रयोग किया, वह तो उसके लिए और भी अशान्तिकर हो उठा।

सन्ध्या बोली—मामूली-सा दर्द है, कुछ ज्यादा दर्द थोड़े ही है, जो तुम इतना चिन्तित होती हो। भूख इस समय नहीं है, इसका यह मतलब नहीं है कि इस वक्त मैं खाना खाऊँगी ही नहीं। बाबू जी को खा लेने दो, फिर मैं तुम्हारे साथ खाऊँगी।

कल्याणी—तो सिर में दवा की मालिश करा लेने में क्या हर्ज है? अभी थोड़ा-सा दर्द है, फिर कहीं बढ़ न जाय। इसी से कहती हूँ।

कल्याणी और अधिक कहे बिना सन्ध्या का हाथ पकड़कर उसे उठा ले गई।

सन्ध्या एक आराम-कुरसी पर लेट गई। पीछे एक कुरसी पर कल्याणी बैठकर उसके सिर में दवा मलने लगी।

ज़रा देर में जब दीनानाथ बाबू खाना खा चुके तो सन्ध्या के कमरे में आकर पूछने लगे—क्या सिर में दर्द है?

कल्याणी ने कहा—वही तो मैं अभी कही रही थी कि इतना अधिक पढ़ने की क्या ज़रूरत है कि तबियत खराब हो जाय॥ (दीनानाथ बाबू को लक्ष्य करके) तुमसे मैंने इतना कहा कि सन्ध्या के लिए वर की खोज करो; पर तुम तो ऐसे निश्चित बैठे हो, जैसे कोई ख़ुद ही तुमसे पूछता हुआ

आ मिलेगा और हाथ जोड़कर यह प्रार्थना करेगा कि दीन-बन्धु, संध्या के लिए मेरा लड़का हाज़िर है !

दीनानाथ बाबू गम्भीर प्रकृति के पुरुष ठहरे। कल्याणी की यह बात उन्हें अच्छी नहीं लगी। बोले—तुम भी क्या वाहियात ढँग से बात करती हो। ब्याह कोई खेल तो है नहीं, जो जब चाहूँ, तब कर डालूँ। जब तक योग्य वर नहीं मिलता, तब तक लाचारी है।

संध्या को इस समय माता-पिता की यह बात-चीत पसन्द नहीं आ रही थी। जैसे गुलाब के फूल तोड़ते हुए कभी-कभी कंटक छिद जायँ, वैसे ही इस सुखद-प्रसंग की चर्चा में ये रूखे शब्द उसके अन्तराल के बेध रहे थे।

दीनानाथ बाबू बाहरी कमरे में चले आये। कल्याणी कहने लगी—क्या करूँ, मुझे अब एक दिन को भी तेरा पढ़ना-लिखना नहीं सुहाता। ज़्यादा पढ़ने-लिखनेवाली लड़कियों का स्वास्थ्य अच्छा नहीं रहता। मेरा बस चलता, या यदि मैं मर्द होती, तो अब तक कभी का तेरा ब्याह होगया होता। मै प्रायः यही सोचती रहती हूँ कि ये कैसे अकर्मण्य हैं, जो इनसे एक ज़रा-सा काम भी नही होता।

संध्या बोली—अब रहने दो माँ! अब दर्द जाता रहा। चलो खाना खालो, मैं भी चलती हूँ।

जलद-बालाएँ जैसे मलय समीरण लहराकर, ढेर के ढेर सुधा-कलश उँडेल देने को तत्पर हो जायँ, जैसे निर्झरिणी अपनी कल्योलमयी पद वली सुनाकर प्रकृति माता की उनींदी आँखें मूँदकर उसे एक-ब र अनन्त निद्रा में विभोर बना दे, जैसे चम्पे की कलिय खिल-खिलकर अखिल विश्व को खिला-खिला दें, जैसे मयूरों की कुहक निखिल उद्यान-व्यापी शून्य जगत को सजग और साकार-सा बना दे, वैसे ही आज कल्याणी की ममतामयी स्नेह-लहरी ने संध्या को एक दम से लहरा दिया।

[८]

दीनानाथ बाबू अभी अपने कमरे के बाहर आराम-कुरसी डलवाकर बैठे ही थे कि त्रिवेणी ने आकर उन्हें प्रणाम किया।

दीनानाथ बाबू ने उन्हे आदर के साथ बैठाकर पूछा—कहो, आज कैसे इधर.....।

त्रिवेणी बीच में ही बोल उठा—आज इविङ्ग क्रिश्चियन कालेज में कवि-सम्मेलन है। वहीं गया था। पर अभी कवि लोग एकत्रित ही नहीं हो पाये हैं। तब तक मैंने सोचा--आप ही के यहाँ चलूँ, देखूँ, आप क्या कर रहे हैं।

दीनानाथ बाबू ने कहा—अलैकजेण्डर ड्यूमा का "ब्लैक ट्यूलिप" आज समाप्त किया है। बड़ी सुन्दर कहानी है। आप भी अवश्य पढ़िये।

त्रिवणी बोला—मैं उसे पढ़ चुका हूँ।

"बतलाइये, कर्नीलस-वान-वैरल के सम्बन्ध में आप की क्या ओपीनियन (सम्मति) है ?"

"ड्यूमा ने कर्नीलस का चरित्र-चित्रण करने में सचमुच कमाल किया है। वह पीड़ित प्राणिमात्र का सेवक है, सचाई का पुजारी है, निर्मल, निश्छल और वीर है। उसके हृदय में प्रेम—पवित्र प्रेम—की ज्वलन्त दीप-मालाएँ सदा जलती रहती हैं। दूसरों को कष्ट देकर वह सुख उठाने का अभ्यासी तो क्या, इच्छुक तक नहीं होता। ईश्वर की सत्ता पर उसका अटल विश्वास है। पहली बार जब रोज़ा ग्रिफ़स उसे जेल से भाग निकलने का अवसर देती है, तब केवल इतनी बात का ध्यान रखकर वह नहीं भागता कि इसका उत्तरदायित्व एक फूल की कली—रोज़ा—पर आ पड़ेगा। उसके शब्दों में एक चाह है, एक उत्कण्ठा है, एक जीवन है, एक प्रतिमा है। उत्तर में वह कहता है—ओह ! तुम कैसी अच्छी लड़की हो ! तुम्हारी इस कृपा के लिए धन्यवाद। पर मैं तो यहीं रहूँगा। उसके इस उत्तर में—"पर मैं तो यहीं रहूँगा"—उसके जीवन

का सब कुछ छिपा हुआ है। पहली ही भेंट में वह कर्नीलस रोज़ा जैसी निर्दोष सहायिका को पाकर कृतार्थ हो जाता है। जब कर्नीलस को प्राण-दंड की आज्ञा मिल जाती है, रोज़ा यकायक रो पड़ती है। कर्नीलस उससे कहता है—रोओ मत रोज़ा, तुम्हारा रोना देखकर मेरी अन्तरात्मा को कष्ट होता है। देखो, अगर निर्दोषी को दोषी समझकर दंडित किया जाय तो उसका धर्म है कि शान्ति और आनन्द के साथ वह अपने अन्त का आलिङ्गन करे; क्योंकि ऐसी अवस्था में वह मृत्यु नहीं, बलिदान है। ड्यूमा ने कर्नीलस के इस कथन में मानो अखिल जगत् के निरपराध बन्दियों के मन की एक प्राण-प्रद, संतोष-सुधा-समन्वित भावना का चित्र खींच दिया है। कर्नीलस संसार के समस्त प्राणियों से स्नेह रखता है। जो उसके साथ उपकार करते हैं, वह अपने जीवन की समस्त शक्ति और साधना के रूप में उसका उपकृत होता है। पर जो उसके साथ कठोर किंवा अमानुषिक व्यवहार करता है, कर्नीलस उसका भी शुभचिन्तक है। वह कहता है—मेरे मन में उसके प्रति कोई दुर्भावना नहीं है, वह शत्रु की दुर्भावनाओं से बदला लेना नहीं चाहता। साथ ही वह उपकृत और कृतज्ञ व्यक्ति से भी कुछ नहीं चाहता। चाहता भी है तो उसका ही सुख, अपना नहीं। रोज़ा जब अपने पिता के लिए कर्नीलस से

क्षमा माँग लेती है, तब, जैसे ही वह कर्नीलस से कहती है—(उस कर्नीलस से, जो कुछ ही घंड़ियों का मेहमान है) अब बताइए—हाय! बताइए—मैं आपकी कोई सेवा कर सकती हूँ? कर्नीलस हौले-हौले हँसता हुआ कहता है—"बस, तुम रोना बन्द करो और आँसू पोंछ डालो, यही" क्या रोजा ने इसीलिए कर्नीलस से कहा था कि मेरे लिए कुछ सेवा बताइए? पर कर्नीलस—देवोपमचरित कर्नीलस—के मन में कुछ हो भी तो। वह तो कुछ चाहता ही नहीं है। अपना त्याग-मयी बलिदान-बेला में वह किसी से क्या माँगे, कैसे माँगे और माँगे ही क्यों? पर नहीं, वह कुछ माँगता भी है। वह माँगता है यही, इतना ही कि 'तुम रोओ नहीं. अपने आँसू पोंछ डालो' बस। वाह! कितनी छोटी सी, कैसी कोमल अभिलाषा है, कर्नीलस के मन की! कर्नीलस के बन्दी-जीवन में एक-दो नहीं, दर्जनों ऐसे मनोहर दृश्य हैं कि ड्यूमा की उपन्यासकला पर चकित-स्तम्भित हो जाना पड़ता है।

"सचमुच, आपने ड्यूमा के आन्तरिक भावों को खूब समझा है। सच बात तो यह है कि इस उपन्यास में ड्यूमा संसार के सर्व-श्रेष्ट उपन्यासकारों के निकट जा बैठता है।... और कहो उसका क्या हाल-चाल है?

"आजकल उनसे मेरा मिलना बहुत कम होता है।"

"क्यों ?"

"रात के १०-११ बजे तक तो वे घूमकर लौटते हैं। कभी-कभी और भी देर से आते हैं।"

"हूँ। कहाँ जाया करता है इसका पता लगाना। बड़ा होनहार है। पर गम्भीर बहुत है—जरूरत से ज्यादा।"

"मैं उनके सम्बन्ध में कुछ कहूँगा, तो कदाचित आपको कुछ बुरा लगे। इसीलिए मैं इस विषय में चुप ही रहना चाहता हूँ।

"क्यों-क्यों, कोई खास बात हो तो बताओ ?"

"खास बात कोई नहीं है और बहुत सी भी हैं।"

"इस बात को और स्पष्ट करो।"

"बात यह है कि एक तो वह परले सिरे का अभिमानी है।"

"दूसरे ?"

"दूसरे, दूसरे उसने अपने जीवन को एकदम से निर्बाध रूपमें छोड़ रक्खा है। कोई सिद्धान्त नहीं, कोई उद्देश्य नहीं। चला जा रहा है, जिस तरह वह अपने आप चल सकता है। फिर चाहे वह पतन की ओर ही क्यों न प्रवाहित हो रहा हो!

"मेरा ख़याल है, भुवन को तुमने अभी समझा नहीं है।"

"और मैं समझता हूँ, आपको अभी तक उसने भ्रम में ही डाल रक्खा है।"

"जैसे।"

"जैसे एक यही बात कौन कम वज़नदार है कि वह आख़िर इतनी रात तक वह ग़ायब कहाँ रहता है?"

"अच्छा, तुम्हारा ख़याल इस सम्बन्ध में क्या है?"

"मैं कुछ तै नहीं कर सका हूँ।"

"अब सही, पता लगाकर बताना।"

"बताऊँगा।"

अब दीनानाथ बाबू ने कलुआ को बुलाकर कहा—चार बीड़े पान तो बनवा ला।...त्रिवेणी, तुम्हारे लिए कुछ खाने के मगाऊँ?

"मैं खाना खाकर हो चला था। इच्छा भी नहीं है।"

"देखो, त्रिवेणी, भुवन की पूरी देख-रेख रखना, भला। मैंने उसको जितना समझा है, उसके अनुसार मैं उससे बहुत स्नेह रखने लगा हूँ। तुम भी मेरे अपने ही हो, इसीलिए तुमसे उसके सम्बन्ध में ऐसी सन्देहात्मक बात सुनकर मुझे बड़ा दुख हुआ।"

त्रिवेणी "दुःख होने की बात ही है। मैं तो कुछ तै

ही नहीं कर सका हूँ कि आख़िर उसने सोचा क्या है ?" कहते हुए उठने लगा।

कलुआ आ गया था। बाबू दीनानाथ ने दो बीड़े पान त्रिवेणी को दे दिये। त्रिवेणी पान पाकर चल खड़ा हुआ। जान पड़ता है, द्वेष की ही अग्नि आज उसके भीतर सुलग रही थी। बँगले से बाहर आकर उसने संतोष की वैसी ही साँस ली, जैसी किसी समय चील किसी के भरे हुए जलेबियों के थाल पर झपट्टा मारकर लिया करती है! अपनी इस पशु-प्रकृति के प्रथम उद्योग पर त्रिवेणी आज वैसा ही प्रसन्न है, जैसा किसी महिषी के थन को काटकर विषधर प्रसन्न होता है!

[९]

सब लोग खाना खा चुके थे। पर मिसराइन अभी तक बैठी ही थीं। आज उन्हें तनख़्वाह लेनी थी। कलुआ परींठे उड़ाते हुए बोला— जान पड़ता है, महराजिन आज तनख़्वाह लेकर ही टलेंगी। आज पहली तारीख़ है न। ओ हो! यह बात है! पर आज बाबूजी रात के दस-ग्यारह बजे से पहले तो लौटते दिखाई नहीं पड़ते। जान पड़ता है, काम ज़रूरी लग गया है। जब कभी उन्हें ज़रूरी काम लग जाता है, तब वे कभी-कभी बड़ी देर से लौटते हैं।

मिसराइन चुपचाप बैठी हुई कलुआ की ये बातें सुनती हुई मन ही मन झुँझला रही हैं। वे समझती हैं कि बाबू दीनानाथ जल्दी ही आजायँगे, कलुआ यों ही बक रहा है। पर जब देर तक बाबू साहब नहीं आये, तो उन्हें कलुआ की बातें सच जान पड़ने लगीं। और इस सचाई के अनुभव से उनका जी और भी अस्थिर हो उठा। कलुआ बोला—अब तो बाबूजी जल्दी आते नहीं मिसराइन जी। आप अब कल ही तनख्वाह पा सकेंगी। न. न, मैं भला क्या जानूँ, कब पायेंगी। सम्भव है, उनको कोई काम ही ऐसा लग जाय कि आज ही रात को उन्हें बाहर जाना पड़े। कौन जानता है, उनके मन की बात? वे पहले से कभी किसी से कुछ कहते भी तो नहीं हैं।

कलुआ पराँठे उड़ाते हुए ये बातें कहते हुए मन ही मन कह रहा है—बस अब थोड़ी सी कसर है, मिसराइनजी का मुँह खुलने ही वाला है। लेकिन चालाक एक नम्बर है। इतनी बातें कह चुका; पर रुख बदला नहीं। आज तनख्वाह जो लेनी है।...अभी चार ही पराँठे तो उड़ाये हैं, भला दो तो और खालूँ। अरे हाँ, 'जो खाये आहार, सो टारे पहार।' बोला—अच्छा मिसराइनजी, अगर आप मेरा ज़रा-सा काम कर दें तो बड़ी किरपा हो। ज़रा-सा मिरचा ला दें। पैरों

पड़ता हूं। सच कहता हूं, तुम सचमुच मेरी माँ हो। माँ न होतीं तो ऐसा अच्छा भोजन बनाकर मुझे कैसे खिलाया करतीं। मिरचा के बिना मुझे खाने में ज़रा भी मज़ा नहीं आता, तुम तो मेरी आदत जानती हो।

मिसराइन इस समय कलुआ का कोई भी कहा टाल नहीं सकतीं। मिरचा लाना तो एक साधारण सी बात है। वे तुरन्त उठकर मिरचा ले आयीं। कलुआ की थाली में छोड़ती हुई बोलीं--अच्छा, इतनी देर से तू जो बक-झक रहा है सो क्या सचमुच आज बाबूजी देर करके ही लौटेंगे ?

वृद्धावस्था का पिचका हुआ मिसराइन का मुख जैसे सशरीर कलुआ के उत्तर की प्रतीक्षा में, उसकी ओर उत्सुकता, आतुरता और सतृष्ण दृष्टि से लटक-सा गया हो। ऐसा जान पड़ता था, जैसे इसी एक प्रश्न पर उनका आज का अखिल भुवनव्यापी कार्य-क्रम निर्भर हो।

कचौड़ी-आलू से भरे हुए मुख में मिरचे का अग्रभाग दाँत से काटते हुए कलुआ ने कहा—ह् ह् ह् हमको अ-अ-अ आप से मजाक क् क् क् करके क्या कुछ मिल जायगा ?

कलुआ हकलाता नहीं है, लेकिन आज इस वाक्य को वह बिल्कुल स्वाभाविक रूप से उतार गया। बीच में न तो ज़रा सा भी झिझका, न ज़रा-सी भी कृत्रिमता ही लक्षित होने पायी।

मिसराइन को अबकी बार सहन नहीं हुआ। वे तिनँग-कर उठ खड़ी हुईं और बोलीं—लुच्चा कहीं का, मुझसे ठठोली करता है! ऐसा बेलना फेंककर मारूँगी कि खोपड़ी चुचुआ उठेगी! नंगे को शरम भी नहीं आती, अदब-कायदा तो मुआ जैसे धोकर पी गया हो!

अब कलुआ मुसकराने लगा। बड़ी देर से वह इस प्रसन्नता के लिए तपस्या कर रहा था! खोज-खोजकर बातें निकालता था; पर कोई भी सफल न होती थी। पर इस बार अपने लक्ष्य-बेध पर वह प्रफुल्ल हो उठा!

मिसराइन रसोई-घर से उठकर बैठक की ओर जाने लगी; इस टोहमें कि कहीं ऐसा न हो कि बाबू साहब आ गये हों और मैं इधर उनकी प्रतीक्षा में बैठी ही रहूं। इसी समय कलुआ बोला—अरे सुनों तो मिसराइनजी, एक बड़ा ज़रूरी काम तो छूट ही गया। तुम्हारे ही मतलब का है, मेरा क्या बिगड़ेगा, तुम्हीं फिर पीछे पछताओगी।

मिसराइनजी का झपटकर आगे बढ़ना न जाने कहाँ चला गया! चट से वे फिर लौट पड़ीं। बोलीं—मुझे बस तेरी ठठोली भर अच्छी नहीं लगती, वैसे मैं तेरे कहने का कुछ बुरा थोड़े ही मानती हूं। और रही बकने की, सो इसकी तो मेरी आदत पड़ गई है। तू जानता ही है।...हाँ, तू अभी

क्या कहता था ? क्या कहीं ठीक किया मेरे लिए कुछ और...! हँ हँ हँ। मैं तो जानती ही हूं कि तू मेरा ख्याल नहीं रक्खेगा तो फिर कौन रक्खेगा !

इस समय मिसराइनजी की दन्त-हीन विकसित मुख-श्री दर्शनीय थी। पके टमाटर के वर्ण से मिलते जुलते ऊपर के मसूढ़े एकदम से खुल गये थे। खाल की सिकुड़न से भरे किन्तु यत्किंचित् विलम्बित गाल मुख की उस शोभा को और भी बढ़ा रहे थे।

कलुआ बोला—हेमिल्टन रोड पर, जानती हो न, जहाँ सेन बाबू का नामी बँगला है, वहीं पर २७ नम्बर के बँगले में, एक बँगाली के यहाँ एक महराजिन की जरूरत है। लेकिन बाबू बहुत बड़े आदमी हैं; तनख्वाह भी आठ रुपये देंगे: पर खाना बहुत अच्छा चाहते हैं।

मिसराइन के मुँह में पानी भर आया। सोचने लगीं—अगर वहाँ का भी काम मिल जायगा, तो दो बरस में मेरी लुटिया रुपयों से भर जायगी ! बोलीं—खर्च करनेवाला होना चाहिए, फिर खाना बनाने में क्या लगता है। अमीर से अमीर, मैं बादशाह के लिए भी बढ़िया से बढ़िया खाना बना सकती हूं। तू बात करादे, अगर तै हो गया तो मैं तुझे मिठाई खिलाऊँगी।

कलुआ हँसते हुए बोला – लेकिन मिठाई मैं पहले खा लूँगा, तब तुमको उनके यहाँ ले चलूँगा।

मिसराइन तो अपनी लुटिया भरने की सोच रही थीं। बोलीं—अच्छा सो सही, पहले ही खिला दूँगा। लेकिन फिर धोखा न हो, यह अभी से कहे देती हूं।

कलुआ उसी ताव के साथ बोला—मर्द की ज़बान एक होती है, कहकर जो मुकर जाते हैं मैं उन्हें मर्द नहीं समझता।... अच्छा तो कल सबेरे की जून छककर मिठाई खिला देना, शामको मैं तुम्हें उस बँगले में ले चलूँगा। लेकिन मिठाई मैं अपनी तबियत की खाऊँगा—सँदेस, चमचम, खीरमोहन मोतीचूर के लड्डू, मलाई की पूड़ी वग़ैरह।

मि०—इस तरह से तो तू मेरा। रुपया-डेढ़ रुपया खर्च करा देगा! इतना मैं कहाँ से पाऊँगी। इतनी क़ीमती मिठाइयाँ खाकर क्यों मेरी पसीने की कमाई का पैसा बरबाद करेगा। अरे यही मामूला मिठाई, पेड़ा-बरफ़ी ही, खा लेना।

कलुआ—तो मुझे क्या पड़ी है कि मैं तुम्हारा इतना फ़ायदा करवाऊँ। जो पैसा ख़र्च कर सकता है, उसे अच्छे-से-अच्छे महराज मिल सकते हैं। मेरा क्या बिगड़ेगा, मुझे तो मिठाई मिलेगी ही, तुमसे न सही, किसी और से सही। फिर

पीछे सोच-सोचकर पछताओगी, हाथ मलोगी। और क्या, मुझे साफ़ बात कहना ज्यादा पसन्द है।

कलुआ का यह निशाना अचूक बैठा है। मिसराइन ने कहा—अच्छा ख़ैर, जो मन में आवे सो खा लेना। तेरी चटोरी जीभ ठहरी, बिना पूरा स्वाद चखे क्यों मानने लगी!

कलुआ प्रसन्नता के मारे प्रफुल्लित हो उठा। वह अब भोजन कर चुका था। हाथ-मुँह धोकर अपनी मैली धोती में ही हाथ पोंछकर बोला—तो कल कर्नलगंज की उसी गोपाल घोषाल की दूकान पर मेरे साथ चलकर मिठाइयाँ ख़रीद देना।

मिसराइन बोलीं—अच्छा।...अच्छा अब मैं भी चलूँगी, आज सचमुच बाबूजी जान पड़ता है, देर से ही लौटेंगे। ख़ैर, कल ही सही।

मिसराइन बाहर जाते हुए एक बार फिर लौटीं और कलुआ के निकट आकर कहने लगीं—अरे कालो ओ काली, अभी इस बात की कहीं चर्चा न करना। समझे, नहीं तो खेल बिगड़ जाने का डर है। समझता न, काम करने लगूँ, तब फिर भले ही कह देना।

कलुआ को आज मिसराइनजी ने 'काली' नाम से पुकार कर जस चाटुकारिता का परिचय दिया, कलुआ उससे अपरिचित न रह सका। बोला—अरे राम कहो, किसी से मैं भला

क्यों कहने लगा। अपनी मिठाई में भी खलल डालूँगा! काम करने लगोगा, तब भी तो शुकराने के तौर पर...। हें हें, तुमतो सब समझती हो मिसराइनजी, तुमको कुछ बतलाने की जरूरत थोड़े ही है।

बँगले से निकलकर वे अभी थोड़ी ही दूर गई होंगी कि बाबू दीनानाथ ताँगे पर आते हुए मिले। एकबार मिसराइन की इच्छा हुई कि लौटकर तनख्वाह ले ही आवें। पर कल की प्रसन्नता के प्रवाह मे इस समय की यह तृणवत् इच्छा कितनी देर ठहरती!

[१०]

कानपुर जिले में पामा स्टेशन के निकट कल्याणपुर नाम का एक गाँव है। गाँव के पूर्व की ओर रिन्द नदी बहती है, जिसके किनारे आम, जामुन तथा गूलर के पेड़ लगे हुए हैं। कहीं-कहीं करील, बेरी, कुँदरू आदि की घनी झाड़ियाँ भी हैं। यत्र-तत्र दो-ढाई फीट लम्बी घास भी रहती है। पावस तथा शरद ऋतु में तो यह नदी प्रायः प्रवाहित रहा करती है पर वर्ष के शेष दिनों में सूखी पड़ी रहती है। हेमंत ऋतु में इस नदी की कछार में मटर, चना तथा सरसों-अलसी की हरियाली देखते ही बनती है।

कल्याणपुर लगभग डेढ़-सौ घरों का एक छोटा-सा गाँव है

इस गाँव में अधिकतर अहीर-गड़रिया, कुरमी लोगों की ही बस्ती है। दो-चार घर क्षत्रियों के भी हैं। क्षत्रिय लोग इस गाँव के ज़मीदार हैं। आठ-दस घर ब्राह्मणों के भी हैं। वे सब भी खेती ही करते हैं। भुवन के पिता पं० कामताप्रसाद भी इन्हीं ब्राह्मणों में से हैं। इस गांव में चार पाई ज़मीदारी इनकी भी है।

कामताप्रसाद का शरीर लम्बा, वर्ण गेहुआं, मुँह गोल पहनावा बहुत सादा है। वे गेरू से रँगी हुई धोती पहनते हैं। प्रायः आधी बांह का बन्डा ही उनके शरीर पर देखा जाता है। सरदी और गरमी के पहनावे में केवल इतना अन्तर रहता है कि सरदी में वह कपड़ा दोहरा रहता है और गरमी में इकहरा। कपड़े में प्रायः कोई अन्तर नहीं रहता। जब कभी मन में आता है या कहीं की यात्रा के लिए चलना होता है, तब एक मिरजई अँगरखी तथा सफ़ेद खासे का साफ़ा निकलता है। नहीं तो यों दैनिक जीवन में प्रायः वे साफ़ा नहीं बांधते। कंधे पर अकसर डेढ़ हाथ का लाल किनारी का अँगौछा पड़ा रखते हैं। कभी-कभी यही अँगौछा सिर पर भी बँधा हुआ देखा जाता है। मस्तक पर चन्दन की एक सफ़ेद टिकुली सदा बिराजमान रहती है। कामता-पंडित का घर कच्चा बना हुआ है। उसका द्वार पूर्व की ओर है। बीच में एक बड़ा-सा आंगन है। अन्दर पूर्व की ओर

रसोई है, तीनों ओर बरामदे तथा कोठरियाँ है। दरवाजे पर छप्पर का एक बैठका-सा बना है। वहीं पर एक ओर बैलों तथा गाय के लिए चारा काटा जाता है।

कामता-पंडित के कुटुम्ब में भुवन के सिवा उनकी पत्नी तथा एक कन्या भी है। कन्या लता भुवन से बड़ी है। वह फतेहपुर में ब्याही है। पत्नी का नाम उर्मिला है, पर कामता-पंडित उसे लता की मां ही कहा करते हैं।

कामता-पंडित प्रायः अपने द्वार पर ही चारपाई डाले बैठे रहा करते हैं। खेती का काम देखने को कभी-कभी खेतों की सैर भी कर आते हैं उन्होंने दो हरवाहे स्थायी रूप से रख छोड़े हैं। इनमें से एक का नाम ज्वाला है, दूसरे का हरसुख। दोनों खूराक के सिवा चार-चार रुपये महीने पर नियत हैं।

कामता-पंडित खाना खाकर बन्डी पहनते हुए दरवाजे की ओर आ रहे थे। इसी समय पोस्टमैन ने उन्हें एक पत्र दिया। पत्र भुवन का था। उसमें लिखा हुआ था--

पूज्य पिताजा, इलाहाबाद

३। ३। ३१

इस समय मैं गिरफ्तार होकर जेल जा रहा हूँ। आशा है, इस समाचार को पाकर आप जरा भी घबरायेंगे नहीं। यद्यपि मैं यह अच्छी तरह अनुभव कर रहा हूँ कि दो-चार दिन आप

बहुत दुखी रहेंगे। शायद आप यह भी सोचें कि बच्चा ने यह अच्छा नहीं किया। आप की आशाओं का मुझे काफी परिचय मिल चुका है। फिर भी मैं जो कुछ कर रहा हूँ, वह उचित ही नहीं, अपना कर्तव्य समझकर कर रहा हूँ। आपकी आशाओं से अपने देश की आशा को मैं कम नहीं समझता। आप मेरे पिता हैं, तो वह मेरा पितामह है। उस वृद्ध पितामह की आशा की ओर बढ़ने में आपको तो हर्ष ही होना चाहिए।

चरण-सेवक 'बच्चा'

पत्र पढ़कर कामता-पंडित एक बार अस्थिर हो उठे। घर के अन्दर जाकर वे एक-दम से रो पड़े। उर्मिला ने पूछा—क्या हुआ; क्या बच्चा की चिट्ठी आई है? अरे कुछ तो बोलो, हाय! कुछ तो बतलाओ!!

कामता-पंडित का गला भरा हुआ था। आँसू टप्-टप् ज़मीन पर गिर रहे थे। बोले—बच्चा की चिट्ठी है, कांगरेस के काम में उसे जेल हो गया है।

उर्मिला रसोई में थी। खाना बना रही थी। उसके हाथों की चूड़ियाँ आटे से सनी हुई थीं। यह समाचार पाकर वह भी फूट-फूटकर रोने लगी।

ये ग्राम्य जीवन के आँसू हैं, उस कृषक और उसकी पत्नी के, जिन्होंने राष्ट्रों के उत्थान और पतन के इतिहास का एक

अक्षर भी कभी नहीं पढ़ा है। देश-भक्ति के भावों का उद्रेक जिनकी आत्मा में कभी साकार होकर मुखरित नहीं हुआ। इनमें अपनी ममता, अपना सरल वात्सल्य ही सदा जीवन का आलोक प्रतीत होता आया है।

घन्टे भर बाद कुछ स्थिरचित्त होकर कामता-पंडित बोले—मेरे मन में सदा बार-बार यह बात आया करती थी कि कहीं किसी दिन बच्चा भी कांग्रेसवालों में न मिल जायँ। जब कभी आता था, मैं उससे बराबर इस काम में न पड़ने को कहा करता था। लेकिन आखिर उसका मन नहीं ही माना।

उर्मिला बोली—अब क्या हो? आज ही चले जाओ। कोशिश करके देखो। शायद छूट जाय। कांग्रेसवाले क्या छूटते नहीं है। मैंने बहुतेरे लोगों को छूटते हुए सुना है। नम्बरदार का लड़का नरायन तो जिस दिन हाकिम के सामने गया, उसी दिन छोड़ दिया गया था।

कामता—उसने सरकार से माफ़ी माँग ली थी। बच्चा कभी ऐसा नहीं करेगा।

"क्यों नहीं करेगा। उससे समझाकर कहना। भला यह भी कोई बात है कि तुम कहो और वह इनकार कर जाय।"

"और बातों की बात दूसरी है। इस बात के लिए वह फ़ौरन इनकार कर देगा। वह अपनी धुन का पक्का है। जिस काम में पड़ता है, जी-जान से उसमें लग जाता है।"

"कुछ हो, चले तो जाओ ही। हाल-चाल ही मिल जायगा। यहाँ बैठे-बैठे तो यह भी पता चलना कठिन है कि कितने दिन को गया, कहाँ को गया।"

"हाँ यह तुम ठीक कहती हो। यही मैं सोच रहा था।"

उर्मिला एक बार फिर रो पड़ी। बोली—हाय! मैं तो सोचती थी, इस साल उसका ब्याह करूँगी! हाय! अब मैं क्या करूँ!!

कामता-पंडित ने कहा—अब तुम रोती व्यर्थ में हो। रोने से भला क्या होगा। कुछ नया अनोखा तुम्हारा ही बच्चा जेल नहीं गया है। आज दिन हज़ारों ऐसे बच्चे जेल में हैं। अफ़सोस तो होता ही है। पर यह भी एक बड़े अभिमान की बात है। इसके लिए हमको ख़ुश होना चाहिए। उन स्त्रियों की ओर देखो जिनके बच्चे सरकार की गोली खाकर चलते बने! क्या उनके हृदय नहीं है, अपने पुत्रों का प्यार क्या उनकी आत्मा में है ही नहीं? चलो अच्छा हुआ; मैं जब तक बना हूँ, तब तक बच्चा की कोई इच्छा खाली

क्यों रह जाय। जी चाहता है, इसके उत्तर में, वह जहाँ कहीं हो, उसे एक पत्र भिजवा दूँ। उसमें तुम्हारी ओर से लिख दूँ—भगवान् करे, अपने पूर्वजों की कामनाओं की पूर्ति का भाव उसमें ऐसा ही सदा सजग रहे। बच्चा ने चिट्ठी में लिखा है—आपकी आशाओं से अपने देश की आशाओं को मैं कम नहीं समझता। आप पिता हैं, तो वह पितामह है! बच्चा की इस समझ को तो ज़रा देखो!

यह है एक अशिक्षित पिता की अपने देश के प्रति निर्मल भावना। कैसी उज्ज्वल और कैसी तेजोमय!—कैसी सच्ची और कैसी कोमल!

[११]

दीनानाथ बाबू ने उसी दिन सुन लिया था कि भुवन कांग्रेस के काम में पकड़ा जाकर जेल चला गया। दिन भर उन्हें कुछ अच्छा नहीं लगा। शाम के वक्त जब वे खाना-खाने के लिये बैठे सन्ध्या भी पास ही बैठ कर खाने लगा कल्याणी खाना परोस रही थी। थोड़ी देर में जब दीनानाथ बाबू खाकर उठने को हुए तो कल्याणी ने एक परौंठा उनकी थाली में और छोड़ दिया। परन्तु दीनानाथ बाबू तो खा चुके थे, अतः उठ खड़े हुए। कल्याणी बोली—आज तुमसे

भूख भर खाया नहीं गया। संध्या ने समर्थन करते हुए कहा—हाँ, आज बाबू अधपेटे ही उठ गये। जान पड़ता है, कुछ तबियत गड़बड़ है।

मुँह-हाथ धोकर, अँगौछे से पोंछने के बाद दीनानाथ बाबू बोले—आज भुवन गिरफ्तार कर लिया गया, छिपे-छिपे वह कांग्रेस का काम किया करता था।

कल्याणी ने साश्चर्य्य कहा—ऐं! गिरफ्तार हो गया!—कौन? भुवन? वही अपना भुवन?

दीनानाथ बोले—हाँ, अपना भुवन।

कल्याणी के मुंह से निकल गया—अब!

दीनानाथ—अब क्या देखो कितने दिन की सजा हो!

कल्याणी ने पूछा—क्या काम किया करता था वह कांग्रेस का उसको तो मैंने कभी न धरना देते सुना, न सड़कों पर प्रभात के समय राष्ट्रीय गान-गाते झंडा लिये हुए देखा!

दीनानाथ बाबू बोले—कांग्रेस के इतने ही काम थोड़े ही हैं। और भी तो बहुत से काम हैं। जैसे किसी सत्याग्रही को घर ठहरा लो, उसकी मदद करो। यह भी तो कांग्रेस का काम है और इसलिए सरकारी कानून से जुर्म माना गया है। भुवन ऐसे लोगों की तथा उनके असहाय परिवारवालों की भी, सहायता करता था।

संध्या ने पूछा—यह आपको कैसे मालूम हुआ बाबू ?

दीनानाथ बोले—कालेज में ही एक छात्र ने बतलाया।··· बड़ा-ही होनहार छात्र था भुवन, परन्तु ज़रा बहक गया। इन नवयुवकों को जब तक संसार का अनुभव नहीं होता, तब तक ये इसी तरह बहकते रहते हैं। पीछे जब पढ़-लिखकर उन्नति करने का समय निकल जाता है, तो पछताते हैं।

संध्या बोली—तो ये जितने भी नवयुवक इस समय जेल में पड़े हुए हैं, क्या सब-के-सब नासमझ ही हैं ? तब तो इन सब से ज्यादा नासमझ हमारे नेता लोग ही हैं, जिन्होंने इनका आह्वान करने की नासमझी की है।

दीनानाथ बोले—अभी तू जैसा सोच रही है; वही ठीक मालूम पड़ेगा; पर थोड़े दिनों बाद जब आन्दोलन ठंढा पड़ जायगा और इन नवयुवकों के लिए कोई काम न रह जायगा, तब पता चलेगा कि हमारे उस विचार में कहाँ पर क्या कमी थी।

दीनानाथ बाबू इतना कहते हुए कल्याणी से दो बीड़े पान खाकर बैठक में चले आये।

जब से दीनानाथ बाबू बातें करने लगे थे, तब से संध्या ने खाना बन्द कर दिया। फिर जब वे बाहर चले गये, तो वह भी उठ खड़ी हुई। भुवन के कारागार-प्रवास की बात

सुनकर संध्या एक-दम से अस्थिर हो उठी। सोचने लगी—उनका प्राण-तत्व, देखती हूँ, कितना सजग है! राष्ट्र के जागरण की उद्दात्त उत्कण्ठा उनकी मानस-लहरी में कैसी द्रुतगति से तरंगित हो उठी! जाओ प्राणेश, जाओ! यह कार्य तुम्हारे ही अनुरूप है! छर् छर् करके अनेक अश्रु-मुक्ता उसके नयनारविन्द से गिरने लगे!!

उधर बाबू दीनानाथ सोच रहे थे—चाहे लाखों बार उत्तरोत्तर प्रबल से प्रबल तर्कों के साथ इस बात को प्रमाणित क्यों न करता रहूँ कि नवयुवकों का इस आन्दोलन में पड़ना अदूरदर्शिता और नासमझी है; परन्तु फिर भी एक-बार एक आँधी के रूप में यह बात मेरे मन में आ ही जाती है कि मैं जो कुछ सोचता हूँ, ऐसी बात नहीं है कि वह ठीक हो। मेरे इस विचार में भी कहीं-कुछ त्रुटि हो सकती है।

[१२]

दिन भर तो संध्या व्यस्तता में काट देती; पर जब रात होती और पलँग पर लेटी हुई वह अपनी आशाओं कामनाओं को साथ लिए हुए भविष्य का एक एक पथ निर्धारित करने की चेष्टा करती, तो झट से भुवन की सदय किन्तु गम्भीर मूर्ति उसके सामने खड़ी हो जाती थी।

एक दिन सबेरे उठते-ही-उठते दीनानाथ बाबू कल्याणी से कहने लगे—इच्छा होती है, कल भुवन से मिल आऊँ। कल रविवार का दिन भी है।

कल्याणी ने कहा—अच्छा तो है; सन्ध्या को भी लेते जाओ। उसका भी जी बहल जायगा। कई दिन से वह बहुत अनमनी रहने लगी है।

"हूँ" कहते हुए दीनानाथ बाबू घर के भीतर की दालान में टहलने लगे।

अपने कमरे में पलँग पर पड़े करवटें बदलते हुए, ज्योंही संध्या ने अपने बाबूजी का यह मन्तव्य सुना, त्यों ही उसकी आत्मा में सोयी हुई उल्लास-लहरी प्रगतिशील हो उठी।

यह हृदय भी एक अद्भुत वस्तु है। बड़ा शरमीला और बड़ा ही सरल। आँसुओं में भीगा हुई दुनियाँ में इस भोले हृदय का मौन रुदन कितना मर्मान्तक होता है, आशाओं की कुम्हलायी हुई पत्तियाँ करुणामयी आँखों को कितनी पीड़ा पहुँचाती है—ये बातें न कहने की हैं, न कही जा ही सकती हैं। परन्तु यह हृदय ही एक ऐसा पदार्थ है, जिसमें ये बातें साकार होकर देख पड़ती हैं।

प्रातःकालीन नित्य कर्मों से निवृत्ति पाकर संध्या अपने कमरे में आकर एक पुस्तक को हाथ में लिये हुए उसे पढ़ने का

व्यर्थ उपक्रम कर रही है। उसका चित्त स्थिर नहीं है। कभी वह टहलने लगती है, कभी कुरसी पर बैठ जाती है और कभी तकिये को अपने वक्ष के नीचे दबाकर लुढ़क रहती है। इसी प्रकार यकायक वह उठ बैठी। उसके एक ओर कपड़ों से भरा हुआ ट्रंक रक्खा है। उसे खोलने के इरादे से उसके निकट गई। ताला खोलकर उसे खोलने लगी। एक साड़ी निकाली—"यह ठीक नहीं है।" दूसरी निकाली—"इसकी किनारी का डिज़ाइन पुराना है।.....यह तो रेशमी है। विलायती नहीं है तो भी क्या हुआ, साड़ी तो बस खद्दर ही की पहनना उचित है।" उसे उसी को भीतर से निकाल कर ऊपर रख लिया। फिर अपने इस विचार पर अपने आप ही झुँझला उठी—"बेशरमी की गठरी हूँ—मिलने के लिए अभी से साड़ियाँ चुन रही हूँ कि कौन सी पहनकर उनसे मिलने जाऊँगी।"

क्रोध और घृणा का भाव उसके अन्तस्तल में छाकर रह गया।

पहले जी में आया कि वह अम्मा से कह दे—आज उसकी तबीयत स्कूल में जाने लायक़ नहीं है; परन्तु फिर कुछ सोच-समझकर रह गई। स्कूल में भी वह मूर्तिवत् स्थिर रही। उसकी सखियाँ जो कुछ उससे पूछतीं, उत्तर में वह केवल हाँ-हूँ, कह देती। अपनी ओर से किसी से भी उसने कोई बात नहीं

की। स्कूल से लौटी तो चुपचाप अपने पढ़ने के कमरे में जाकर पलँग पर लेटे-लेटे छत की कड़ियों की ओर देखती रही।

आज बाबू दीनानाथ ने भुवन से मिलने की दरख्वास्त दे दी थी। दूसरे दिन रविवार था। जेल के कैदियों से इसी दिन मिलाई होती है।

दूसरा दिन भी आया। यों तो रोज ही ये दिन आते और चले जाते हैं; पर कभी इनकी रूप-रेखा पर दृष्टि डालने का अवसर नहीं मिलता। लेकिन आज संध्या का जी न माना। मलाका-जेल के फाटक पर जो नीम का विशालकाय वृक्ष है, उसी के नीचे चबूतरे पर दीनानाथ बाबू के साथ बैठी हुई संध्या आज इस दिन की ओर देखने लगी।

चैत्र का महीना है—बसंत ऋतु। गरमी का आगमन अभी नहीं हो पाया है, तो भी धूप कुछ कुछ कड़ी जान पड़ने लगी है। इस समय दस बजे हैं, कल्याणी कह-कहकर हार गयी कि कुछ खा ले, देर से लौटना होगा, पर संध्या ने नहीं माना। दीनानाथ बाबू ने चलते-चलाते कुछ फल ले लिये थे। वही एक रूमाल में संध्या लिये हुए थी।

चबूतरे पर भीड़ लगी हुई थी। क़ैदियों से मिलनेवाले लोगों की संख्या बढ़ती जा रही थी। संध्या सोचने लगी—कोई भाई से मिलने आया होगा, कोई अपने पुत्र से; कोई मित्र

से, परन्तु यदि कोई मुझ से पूछ बैठे—तुम किससे मिलने आयी हो, तो मैं क्या उत्तर दूँगी।

जो आँखें अभी तक मलाका-जेल के फाटक पर चारों ओर धूप, छाया, भीड़ और आगत पुरुषों की रूप रेखा देख रही थीं, यकायक उन आखों से आँसुओं के बूँद छलछला आये। जी में आया—एकबार खूब अच्छी तरह से रो लूँ, पर वहाँ उस समुदाय में लज्जा का बन्धन भी कम न था। जो मसोसकर रह गयी! शेर याद आ गया—

मुग़-दिल मत रो यहाँ आँसू बहाना है मना।

पुकार होने लगी। कोई फाटक के भीतर से पुकारने लगा—राजाराम शुक्ल के मिलनेवाले!

उपस्थित समुदाय में हलचल मच गयी। लोग एक-दूसरे की ओर देखने लगे। तत्क्षण भीड़ में से दो सज्जन निकलकर फाटक की ओर चल पड़े। यही सिलसिला बड़ी देर तक जारी रहा। थोड़ी देर में बाबू दीनानाथ का भी नम्बर आया। वे और सन्ध्या दोनों चल पड़े। एक तीसरे व्यक्ति उनसे मिलने को और भी बढ़े। वे सिर पर खासे का सफ़ेद साफ़ा—बदन पर खादी की मिरजई अँगरखी और गेरुए रंग से रँगी पटलीदार धोती पहने हुए थे। दीनानाथ ने उनकी ओर ध्यान से देखते हुए पूछा—आप भी भुवन से मिलने आये हैं?

उत्तर मिला—हाँ, वह मेरा बच्चा है।

इधर दीनानाथ ने उन्हें नमस्कार किया, उधर संध्या ने प्रणाम। दीनानाथ ने अपने सम्बन्ध में आप ही कहा—मैं उनका शिक्षक दीनानाथ हूँ। शायद कभी आपसे भुवन ने मेरा ज़िकर किया हो।...मुझे तो कुछ भी पता न था कि भुवन छिपे-छिपे क्या कर रहा है। नहीं तो मैं उसे इस तरह फँसने न देता।

कामता-पंडित बोले—मैं तो जानता था कि इनके विचार जैसे आगे बढ़े हुए हैं, उसके अनुसार जेल जाना निश्चित है।

दीनानाथ ने पूछा—आप अकेले ही आये हैं?

कामता—हाँ, बच्चा की माँ भी आना चाहती थी; पर वह उसके लिए रोती बहुत है। मैंने कहा—तुम वहाँ भी उसी तरह रो रोकर बच्चा के जी को छोटा करोगी तो मैं तुमको न ले जाऊँगा। फिर पीछे से जब मैंने यही अनुभव भी किया तो जानबूझ कर मैं ही उसे साथ नहीं ले आया।

दीनानाथ—अच्छा किया।

जेल के अन्दर प्रवेश करने की निशानी दीनानाथ, संध्या और कामता-पंडित के दाहिने हाथ में लगा दी गई और वे फाटक की खिड़की से भीतर चले गये।

अन्दर भी मिलनेवालों की काफ़ी भीड़ थी। उन्हीं में से एक ओर भुवन उत्सुक आँखों से समागत व्यक्तियों की ओर देखता हुआ देख पड़ा। वह सरकारी जेल की उर्दी पहने हुए है। सिर पर बालों के जो गुच्छे लहराया करते थे, वे तैल-रहित होकर शुष्क और कुछ-कुछ भूरे हो रहे हैं। प्रति-दिन दाढ़ी बनाते रहने पर ऊपर के ओठों के ऊपर मूछों की एक हलकी-सी क्षीणकाय कालिमा मात्र देख पड़ती थी। अब वह बात नहीं है। अब तो मूछें स्पष्ट रूप से उग आयी हैं।

कामता-पंडित को देखकर भुवन ने उनका चरण-स्पर्श किया। दीनानाथ बाबू को प्रणाम और साथ ही एक बार संध्या की ओर देखकर कहा—कहो संध्या, अच्छी तो हो? फिर चट से पिताजी की ओर मुखातिब होकर कहने लगा - आप ने उतनी दूर से व्यर्थ ही तकलीफ़ की। मेरी चिट्ठी से मालूम हुआ होगा। अम्मा बहुत रोयी होंगी।...वह तो मैं ख़ुद ही सोचा करता हूँ। और सब तो ठीक है न? इधर आपकी तबियत तो ठीक रहती है न? मुझे यहाँ किसी प्रकार का कष्ट नहीं है। पढ़ने के लिए किताबें काफ़ी हैं। कुछ अँगरेज़ी की पुस्तक और अपने एक मित्र से मँगवाई हैं। वे आजायँगी तो सम्भव है, यहाँ उनके प्रभाव में आकर मैं कुछ लिख भी

डालूँ। जेलर मुझे तो बड़े सज्जन मालूम हुए। मेरा ख़ास तौर से ध्यान रखते हैं। जेल में सिवाय इसके कि घरवालों तथा दोस्तों से मिलना नहीं होता और तो कोई ख़ास कष्ट नहीं है। हाँ, जेल के क़ानूनों को न मानने पर अलबत्ता सख़्ती की जाती है। आप किसी तरह की कोई चिन्ता न करें। छै महीने की सज़ा हुई है। अगस्त में छूट जाऊँगा! परीक्षा?—परीक्षा का हर्ज़ ज़रूर हुआ। पर मैं अपनी परीक्षा देखूँ और देश की परीक्षा की ओर से आँखें बन्द करलूँ, यह भी तो उचित नहीं देख पड़ता।

अब वह दीनानाथ बाबू की ओर मुड़ा। बोला—आपको तो बड़ा आश्चर्य हुआ होगा। मेरे सभी साथियों को आश्चर्य है। पर मुझे ऐसी संस्था की ज़रूरत देख पड़ी जो इस यज्ञ में आहुति देनेवाले परिवारों की ओर दृष्टि रखकर अवसर आने पर उनकी सहायता करे। मैंने ऐसे-ऐसे घरों का पता लगाया है जिनके बच्चे तो जेल में ज़रूर हैं, पर जिनको माताओं तथा बहिनों-पत्नियों के पास न तो खाने को अन्न का एक दाना है, न पहनने को कपड़े। इस जाड़े के दिनों में वे पुआल की गरमी से अपना शीत निवारण करते हैं। सच पूछिये तो ऐसे लोगों के त्याग का स्थान बहुत ऊँचा है। कांग्रेस ऐसे लोगों

के लिए क्या करती है ? उसकी ऐसी शक्ति कहां है ?...और बतलाइये, त्रिवेणी आजकल आता है कि नहीं ?

दीनानाथ बाबू बोले—हां, अकसर आ जाता है।

भुवन—मेरे बारे में क्या कहता था ?

दीनानाथ—कहता था, वे मिस्टीरियस व्यक्ति हैं।

भुवन खिलखिलाकर हँस पड़ा—मिस्टीरियस ! अच्छा, ऐसा रिमार्क पास करता था ? हां, एक काम कीजिएगा—कार्लमार्क्स की स्टडी मैं खासतौर पर करना चाहता हूँ। उसके कुछ वर्क्स तो आपके पास हैं। कुछ जो और कहीं मिलें, वे यहां आफिस में जमा करवाकर मुझे भिजवा दीजियेगा।

भुवन अपने पिता को दाऊ कहा करता था। अब वह फिर कामता-पंडित की ओर देखकर बोला—दाऊ, अब आप यहां इलाहाबाद इतनी दूर आने का कष्ट न उठाइयेगा। मैं समय-समय पर चिट्ठी भी लिखता रहूँगा। ईश्वर चाहेगा तो मैं यहां से अगर कुछ तगड़ा नहीं तो ज्यों-का-त्यों तो जरूर निकलूँगा। मुझे बी क्लास मिल गया है। अम्मा को समझाये रखिएगा, वे ज्यादा रोने न पावें।

मिलने का समय हो चुका था। सब लोग चलने लगे। आगे कामता पंडित थे, पीछे प्रो० दीनानाथ और उनके पीछे

संध्या थी। चलते हुए वह फलों से भरा हुआ रूमाल भुवन को देती गई। एक बार उसने भुवन की ओर देखा और फिर वह अपने रूमाल से आँखें पोंछने लगी।

भुवन ने फल ले लिये। जब वह अपनी बारिक को जाते हुए, चुपचाप चलने लगा, तो उसे ऐसा मालूम हुआ, जैसे उसने उस दिन संध्या के सम्बन्ध में जो बातें सोच डाली थीं, वे सब-की-सब अपना साकार रूप बना रही हैं! नहीं तो भला ऐसी जरूरत ही क्या थी कि...

आगे चला तो जा रहा है भुवन, पर उसके पैर नहीं उठ रहे हैं। अन्तरात्मा में एक आँधी-सी चलने लगी है।...फलों को गौर से देख रहा है। ये सेब हैं, ये अमरूद। और अरे यह सफ़ेद-सफ़ेद नीचे क्या है? चट से निकाल लिया। वाह! यह तो जान पड़ता है, चिट्ठी है!

काग़ज़ के निर्जीव टुकड़ों को भी कभी-कभी बड़ा महत्व मिल जाता है। अरे हाँ, ज़रा देखो तो सही, मेरा यह नायक कैसा पागल हो उठा है! वह उस चिट्ठी को चूम रहा है!

अनन्त युगों तक मानवात्मा के अन्तर का यह उन्माद चलेगा। इसका न आदि है न अन्त। यह अजेय है और अविनश्वर। तभी तो चिट्ठी को चूमते हुए आज भुवन की आखों के पलक भीग उठे!

[१३]

त्रिवेणी घर का अमीर नहीं है तो भी वह ऐसे ढंग से रहता है कि उसके सम्बन्ध में कोई यह नहीं कह सकता कि वह गरीब है। एक प्रकाशक के यहाँ से उसको अँगरेज़ी से अनुवाद करने का काम मिल गया है। पहली बार हिसाब होने पर जो उसे २७) मिले तो उसने झट से एक रिस्टवाच खरीद ली। दो सप्ताह तक वह प्रो० दीनानाथ बाबू के यहाँ नहीं गया। ऐसी बात न थी कि उसे उनके यहाँ जाने का अवकाश ही न मिला हो, पर केवल यह प्रकट करने के लिए कि वह बहुत व्यस्त रहता है, उनके यहाँ नहीं गया।

एक दिन यूनिवर्सिटी में प्रोफेसर शुक्ल का लेक्चर था। यूनिवर्सिटी-सर्किल के व्यक्तियों के सिवा नगर के और भी विशेष-विशेष व्यक्ति एकत्रित थे। प्रोफेसर दीनानाथ को त्रिवेणी ने पहले ही देख रक्खा था। जब वे लेक्चर की समाप्ति पर चलने लगे, तो त्रिवेणी जान-बूझकर, परन्तु ऐसे ढंग से कि मालूम यही हो मानो अनायासही मिल गया हो, दीनानाथ बाबू के सामने आ निकला। नमस्कार स्वीकार करने के पश्चात दीनानाथ ने आपही कहा—बहुत दिनों में देख पड़े।

त्रिवेणी बोला—क्या बताऊँ, अवकाश ही नहीं मिलता।

और अध्ययन करने के यही दिन भी हैं। ...अगले सण्डे (रविवार) को आऊँगा।

ज्यों-त्यों करके रविवार का दिन भी आगया। आज त्रिवेणी अपना वेश-भूषा बदले हुए था। वैसे वह खद्दर का भक्त न था। देशी और कभी-कभी—भूले भटके, या तबियत चले—विदेशी भी पहन लेता था; पर आज वह सिर-से पैर तक खद्दर ही खद्दर धारण किये हुए था। इसके सिवा उसके वेश में एक परिवर्तन और भी हो गया था। आज उसकी आँखों पर मोटे काले फ्रेम का एक चश्मा और कलाई में घड़ी भी सुशोभित थी। पहले बटर-फ्लाई मूँछ रखता था, आज वह भी साफ़ थी। अपने इस परिवर्तन पर वह बहुत प्रसन्न था। अपने कमरे में खड़े-खड़े अपनी इस परिवर्तित वेश-भूषा पर वह स्वयं ही अनेक बार मुग्ध हो-होकर प्रसन्न हो चुका था। इस परिवर्तन का यह नया दिन न था। रविवार के दो-चार दिन पूर्व से ही वह इसी रूप में रहने लगा था। अपने मित्रों के मुँह से इस परिवर्तन की प्रशंसा सुनकर वह अनेक बार अपने को कृतार्थ मान चुका था। अस्तु, इसी रूप में त्रिवेणी प्रोफ़ेसर दीनानाथ के घर आठ बजे प्रातःकाल दाखिल हो गया।

दीनानाथ बाबू बैठक में ही बैठे हुए एक मासिक-पत्रिका उलट-पुलट रहे थे।

त्रिवेणी ने आते ही पहले उनको प्रणाम किया।

दीनानाथ बाबू बोले--खुश रहो, आओ बैठो। अच्छा, आज तो तुम काफ़ी फ़ुरसत से आये हो न? मेरा अभिप्राय यह है कि आज तो तुम यहीं खाना खाओगे न?

त्रिवेणी बोला--अच्छी बात है, यहीं खा लूँगा।

इसी समय कलुआ पान लिये हुए उपस्थित हुआ। उसके हाथ से पान-बाड़े लेते हुए दीनानाथ बाबू ने कहा—घर में कह दो, आज त्रिवेणी के लिए भी खाना बनेगा।

कलुआ चला गया।

अब दीनानाथ बाबू जरा मुसकराते हुए बोले--आज तो आप बहुत बदले हुए देख पड़ते हैं।

त्रिवेणी गम्भीरतापूर्वक बोला—ऊपर से ही नहीं, भीतर भी बहुत-कुछ बदल गया हूं। इतना ही नहीं, और भी अधिक बदल जाने की चेष्टा में हूं। भुवन के कारागार-प्रवास का मेरे ऊपर कम प्रभाव नहीं पड़ा है। उसके विचारों ने मेरे हृदय में एक प्रकार का हाहाकार उपस्थित कर दिया है। जब वह जेल नहीं गया था, तब दो-एक बार विचारों के मतभेद के कारण मैं उससे लड़ तक गया था। कई दिनों तक उससे वार्तालाप तक न हो सका था। पर अब देखता हूं, उसकी

दृढ़ता में बड़ा बल है। सबसे ज्यादा महत्व किंवा गौरव की बात जो उसके जीवन में है, और जैसा मैंने उसको अनुभव किया है, यह है कि वह जो कुछ सोचता और समझता है, उसे कार्य का रूप भी उसी तत्परता से देता है। उसका कार्य, वचन और मन एक है। मैं तो सोचता था—यह विचारों का ही पुतला है, परन्तु मैंने, अपनी आँखों के सामने, प्रत्यक्ष रूप से यह देख लिया कि वह वास्तव में कर्मवीर है।

त्रिवेणी ने भुवन की इस प्रकार अत्यधिक प्रशंसा करके पहले ही प्रोफ़ेसर दीनानाथ का मन आकृष्ट करने का जो उद्योग किया, तुरन्त ही उसने उसका फल भी देख लिया। प्रोफ़ेसर दीनानाथ उसकी ओर इकटक ताकते से रह गये। वे बोले—मैं यह जानकर बहुत प्रसन्न हुआ कि तुमने भुवन को यथार्थ रूप में समझ लिया।

त्रिवेणी ने कहा—मैंने उसके मुख पर उसके विचारों की सदा तीव्र आलोचना की है। प्रशंसा का एक शब्द भी उसके मुँह पर मैंने कभी नहीं निकाला। मैं जानता हूँ कि भुवन को इसकी आवश्यकता न थी, क्योंकि वह किसी की सम्मति, प्रशंसा और निन्दा की परवा नहीं करता। वह जो कुछ भी सोचता, समझता और करता है, उसका आदि और अन्त उसके हृदय में ही रहता है। इसीलिए वह अपने विचार

सहसा किसी पर प्रकट भी नहीं करता। असल में वह विचारों का नहीं, कार्य का आदमी है। परन्तु इतने पर भी, मैं अब तक यही समझता और मानता आया हूँ कि मनुष्य ऐसा प्राणी है, जिसको अपने साथियों की सम्मति की आवश्यकता पड़ती है। और इसलिए यह सोचकर मुझे बड़ी ग्लानि होती है कि उसके जिन विचारों की अब मैं प्रशंसा कर रहा हूँ, यदि उनकी उपस्थिति में भी मैंने उनकी प्रशंसा की होती, तो उसे कितना अधिक बल मिलता!

प्रोफेसर दीनानाथ सोचने लगे—अब मालूम हुआ कि वह व्यक्ति (त्रिवेणी) भुवन का कितना बड़ा आत्मीय और शुभचिन्तक है।

दीनानाथ बाबू भोजन करने बैठे तो संध्या नहीं दीख पड़ी। उन्होंने कल्याणी से पूछा—सन्ध्या क्यों नहीं आई?

कल्याणी ने कहा—आज उसकी तबियत ठीक नहीं है। अपने कमरे में मुँह लपेटे पड़ी है।

त्रिवेणी उत्सुक नयनों से चारों ओर देख रहा था। उसे आशा थी कि खाना खाने के समय संध्या से अवश्य मुलाकात होगी। कल्याणी के उत्तर से उसकी इस आशा पर तुषार पड़ गया। वह उदास हो गया। यह कोई देख न ले, इसलिए उसने मुँह फेर लिया।

थोड़ी देर तक दोनों चुप रहे। सहसा दीनानाथ बाबू ने पूछा—त्रिवेणी, इस मूवमेंट के बारे में तुम्हारी क्या धारणा है?

त्रिवेणी थोड़ी देर चुप रहा। इस अप्रासंगिक प्रश्न से वह समझ न सका कि दीनानाथ बाबू का क्या अभिप्राय है और किस उत्तर से वे प्रसन्न हो सकेंगे। क्षणभर रुककर उनकी ओर देखते हुए त्रिवेणी ने कहा—मेरी धारणा का मूल्य ही क्या है? मैंने इस सम्बन्ध में अभी विशेष कुछ सोचा भी नहीं है। सहानुभूति तो इसके लिए मेरे मन में जरूर है, लेकिन यह कहाँ तक प्रैक्टिकल साबित हो सकेगा, मैं नहीं कह सकता।

त्रिवेणी ने प्रोफेसर साहब की ओर देखा। उसे मालूम पड़ा, जैसे उसके इस उत्तर से वे प्रसन्न नहीं हुए। थोड़ी देर दोनों ही चुचचाप खाते रहे। त्रिवेणी को यह चुप्पी अखर रही थी। उसने पूछा—इधर कई रोज से आप सिनेमा की ओर नहीं गए शायद।

"नहीं, भुवन के जेल जाने के बाद से ही नहीं गया। एक दिन जानेवाला था तो संध्या ने कहा—जबतक भुवन जेल में है, मैं सिनेमा नहीं देखूँगी। बड़ी भावुक लड़की है पगली।"

प्रोफेसर साहब ने तो साधारण भाव से ही यह बात कही थी, पर त्रिवेणी के मन में वह तीर-सी लगी। त्रिवेणी और

सब जगह भुवन की तारीफ़ सुन सकता था, मौक़ा पड़ने पर स्वयं भी तारीफ़ करने से बाज़ न आता, पर यहाँ?—वह विष को घूँट-सा पी गया। बोला—जिसे दुनिया में रहना है, भावुकता उसके लिए प्रैक्टिकल चीज़ नहीं है और इससे सब जगह काम भी नहीं चल सकता।

प्रोफेसर साहब ने कहा—सच है, लेकिन ठीक उसी तरह सब जगह प्रैक्टिकल होने से भी काम नहीं चलता। यों, भावुकता उतनी बुरी चीज़ भी नहीं है।

भोजन समाप्त होने पर फिर त्रिवेणी ने इधर-उधर देखा, पर संध्या कहीं न दीख पड़ी। उसे ऐसा मालूम हुआ, मानो उसकी उपेक्षा करने के लिए, जान-बूझकर ही, संध्या ने तबियत ठीक न रहने का बहाना बना दिया है। उसका मन बड़ा खिन्न हो उठा।

जाते समय प्रोफेसर साहब ने कहा—त्रिवेणी, कभी-कभी इधर हो जाया करना। भुवन के जेल चले जाने से बड़ा सूना-सूना-सा लग रहा है। उसके प्रति मेरे मन में बड़ा वात्सल्य उत्पन्न हो गया है, जैसे मेरा अपना ही लड़का जेल चला गया हो।

प्रोफेसर साहब के हृदय की करुणा स्पष्ट ही उनकी आँखों में झलक उठी। त्रिवेणी झल्ला गया—उसका आना इसलिए

अपेक्षित है कि भुवन अनुपस्थित है। क्या उसका अपना कोई मूल्य ही नहीं ? भुवन में क्या ऐसी बात है कि ये लोग उसे इतना महत्व दे रहे हैं ? प्रोफ़ेसर साहब की बात के उत्तर में त्रिवेणी ने 'अच्छी बात है, आऊँगा' कह तो दिया, पर मन ही मन उसने दृढ़ निश्चय किया कि वह तब तक इस घर में पैर न रक्खेगा, जबतक उसकी ख़ुद की ज़रूरत इस घर के लोग न महसूस करने लगेंगे।

इस घर के लोग। कौन ?—संध्या और प्रोफ़ेसर साहब। कल्याणी की तो कोई गिनती ही न थी।

[१४]

बादल घिर आये थे—काले-काले, सघन। आसमान झप्सा हो उठा था। दिन के प्रकाश में अंधकार घनीभूत हो आया था। खुली खिड़की से हवा के ठंडे झकारे आकर मन-प्राण सिहरा देते थे। संध्या ने खिड़की से बाहर देखा, प्रकृति का यह उदासीन विधवा-वेश कितना करुणाजनक है! आज संध्या के मन में न जाने क्यों जगत् की अनन्त शून्यता भर उठी है। उसका जी जाने कैसा हो रहा है। किसी अनिष्ट की आशंका से मन काँप-काँप उठता है।

वह चुपचाप सोफ़े पर लेटी है। शरीर अवसन्न हो रहा है, मन-प्राण शिथिल। कितने विचार, कितनी कल्पनाएँ

कितनी आकुल आकांक्षाएँ आकर हृदय में कंपन उत्पन्न करती हैं, फिर चक्कर काटती हुई अदृश्य हो जाती, शून्य में मिल जाती हैं। जीवन में कितने ऐसे अवसर आते हैं, जब मनुष्य को कुछ भी अच्छा नहीं लगता, जीवन भार-सा प्रतीत होता है, कल्पनाओं की कुलाँचें असह्य; किन्तु संध्या के लिए यह अनुभव नया है। वह समझ नहीं पाता कि उसके मन में इतनी जलन, इतनी वेदना, यह सूनापन क्यों है? भुवन की बात सोचती है, तो उसे लाज आती है। यह क्या भुवन के लिए इतनी विकल है?—हाय, कोई जान ले, कोई समझ ले, तो उसकी क्या गति होगी?—भुवन? कैसे अचानक ही भुवन ने उसके मन को मछली की तरह अपने आकर्षण के रेशमी फन्दे में बाँध रक्खा है? भुवन उसका कौन है? क्यों वह भुवन के लिए इतनी उतावली, इतनी व्याकुल हो?—संध्या यह सब सोचती है, पर उसका मन उसके वश में नहीं है।

संध्या को याद आती हैं वे बातें, जब एक-आध बार भुवन से अकेले में बात-चीत करने का उसे मौक़ा मिला था—वह कैसा विनयी, संकोचशील और लज्जालु! कभी उसने आँख उठाकर संध्या की ओर देखा नहीं, कभी अपने मुँह से अपने हृदय की बात कही भी नहीं। आत्म-गोपन की वेदना उसके

मुँह पर खेलती रहती है, उससे एक तेज निकलता है। भुवन उस तेज से गौरवान्वित है।

संध्या सोचती है—क्यों उन्होंने ऐसा काम किया जिससे उन्हें जेल जाना पड़ा ? उनका शरीर क्या जेल की यातनाएँ सहने के लिए बना है ?...फिर अपने आप ही अपने प्रति धिक्कार की भावना उत्पन्न होती है—देश के गौरव की रक्षा के लिए, स्वर्गादपि गरीयसी जननी जन्मभूमि की स्वतंत्रता के लिए संसार के सभी महापुरुषों ने कष्ट उठाये हैं, यातनाएँ सही हैं। मैं क्या ऐसी कायर हो जाऊँगी कि उन्हें सत्पथ से विचलित करने की कामना करूँगी ?—लेकिन, आँखों में आँसू भर-भर आते हैं—हाय, वह कोमल-सुकुमार शरीर कैसे कारागार की यंत्रणाओं में जीवन के छः मास व्यतीत करेगा ? हम संसार के सुख भोगेंगे, अच्छा-अच्छा खायें-पहनेंगे, सुख की नींद सोयेंगे, सिनेमा-थियेटर देखेंगे, और वह तपस्वी की तरह कठोर तपस्या की अग्नि में अपना शरीर झुलसावेंगे !..... संध्या के मुँह पर गम्भीर पीड़ा की कालिमा छा गई, एक गरम उसाँस निकलकर शून्य में विलीन हो गई। संसार में कौन किसी के हृदय की वेदना समझ पाया है ?

झर-झर पानी बाहर बरसने लगा। संध्या की आँखों ने भी अपने हृदय का बोझ हलका करना चाहा, पर संध्या ने

उन्हें बरजा। वेदना तो हृदय में जितने गहरे छिपी रहे, उतना ही उसका मोल है। अपने हृदय की निधि कैसे वह दुनिया के आँगन में बिखरा दे ?

शाम का अँधेरा घना हो आया। पानी बरसता रहा, बादल गरजते रहे, कभी-कभी बिजली भी चमक उठने लगी। ठण्ढी हवा के झोंकों ने बदन में कँपकँपी उत्पन्न की, हृदय की आग ने शरीर को तप्त कर डाला। संध्या ने अँगड़ाई ली, हरारत-सी जान पड़ी। अँधेरा भला मालूम पड़ रहा था। उसने पैर फैला दिये।

कल्याणी संध्या को खोजती उसके कमरे में आयी। अँधेरा देखकर उसने समझा, शायद संध्या यहाँ नहीं है, लेकिन इतने में संध्या ने पुकारा--अम्मा !

कल्याणी ने कहा—बेटी, बाहर तेरे बाबूजी बुला रहे हैं और तू यहाँ अँधेरे में अकेली बैठी क्या कर रही है ?

संध्या बोली--अम्मा, आज तबियत भारी-सी हो रही है, बदन टूट रहा है, इसी से बाहर नहीं गयी। बाबूजी घूमने चले गये क्या ?

"नहीं, वह तेरे ही लिए बैठे थे और अब तो कई लोग आ गये हैं। वे बैठक में बैठे बातें कर रहे हैं।" कहकर

कल्याणी ने संध्या के बदन पर हाथ रक्खा। उसका शरीर गरम था। कल्याणी ने कहा—संध्या, तुझे तो बुखार है।

कल्याणी संध्या के पास ही बैठ गई।

संध्या ने कहा—कोई बात नहीं, यों ही जरा-सी हरारत हो गई है।

कल्याणी बोली—बेटी, तुझे क्या हो गया है? कई रोज से तू इसी तरह पड़ी रहती है, न वक्त पर नहाती-धोती है, न खाती-पीती है। शरीर दिन-दिन गला जा रहा है। इस तरह कै रोज चलेगा? आखिर कुछ अपने मन की मुझे भी तो बता?

लेकिन संध्या क्या बतलाती! एक फीकी मुस्कराहट उसके अधरों पर खिली। उसने कहा—अम्मा, मुझे तो कुछ भी नहीं हुआ, यों ही जरा हरारत हो आई है। दो-एक रोज में ठीक हो जायगा।

कल्याणी बोली—संध्या, तू चाहे जो कह, लेकिन तेरा मन मुझसे छिपा नहीं है बेटी। चल, बाबूजी के साथ जरा घूम-फिरकर जी बहला ले। कल तेरे जन्म-दिन का उत्सव है। ऐसे पड़ी रहना मुझे अच्छा नहीं लगता।

कल्याणी की आँखों ने करुणा के बूंद ढलकाये। संध्या का हृदय भी उमड़ा आ रहा था। अपने हृदय के उमड़ते हुए उच्छ-

वास को रोककर उसने एक धीमी उसाँस छोड़ी। फिर माँ-बेटी दोनों कमरे से निकलकर बाहर आईं।

[१६]

क्रोध के आवेश में तो त्रिवेणी ने यही निश्चय किया था कि अब वह बाबू दीनानाथ के यहाँ न जायगा, लेकिन क्रोध की मात्रा ज्यों-ज्यों कम होती गई, त्यों-ही-त्यों उसका निश्चय भी शिथिल होता गया; और आज तो यह उनके यहाँ जाने के लिए उतावला-सा हो उठा है। आज संध्या का जन्म-दिन है। इसी उपलक्ष्य में बाबू दीनानाथ ने आज अपने तथा संध्या के हित-मित्रों को पार्टी दी है। संगीत-चर्चा का भी आयोजन है। संगीत-परिषद् के अधिवेशन में आये हुए अनेक प्रसिद्ध कला-विदों को आज उन्होंने आमंत्रित किया है।

पार्टी का समय शाम के सात बजे से है, किन्तु त्रिवेणी तीन बजे से ही बेचैन है। क्रॉप का रेज़र निकालकर उसने क्लीन शेव किया, गोल्डेन ग्लोरी सोप से स्नान किया, ऐटकिन्सन के स्वीट पी से केशों में स्वर्गीय सुगंधि उत्पन्न की, फिर पंपिया की शीशी लेकर वस्त्रों का चुनाव करने बैठा। पहले तो वह शीघ्र निर्णय ही न कर पाया कि आज कौन से वस्त्रों में वह अपने को सजे—कभी सिल्क का सूट उसे आकर्षित करता, कभी चुस्त पाजामा

और अचकन और कभी वह खद्दर के धोती-कुर्ते की ओर भी नज़र डालता। आज उसे नया सिला हुआ सिल्क का सूट विशेष आकर्षित कर रहा था, लेकिन अभी उसी रोज़ वह खद्दर पहनकर दीनानाथ बाबू के घर गया था, आज सूट पहनकर जाना जँचता न था। आख़िर विजय खद्दर की ही रही। साफ़ झकझक धुली हुई खद्दर की धोती निकालकर उसने पहनी, कुरते की आस्तीन में चुन्नट दी, पालिश की हुई कानपुरी टोपी तिरछी लगाई, पैरों में पेटेंट लेदर का ब्राउन पम्प शू पहना, रूमाल और कपड़ों में पंपिया की शीशी उड़ेल ली और इस तरह सज-धजकर कमरे में टहलने लगा। मुश्किल से अब साढ़े पाँच बजे थे। ये डेढ़ घन्टे कैसे कटें? कमरे में टहलने से तो निश्चय ही नहीं कट सकते। तब? त्रिवेणी एक आराम कुर्सी पर लेटकर ओपेनहम के सस्ते सीरीज़ की एक किताब पढ़ने लगा। उसने पन्ने पर पन्ने उलटे, बार-बार कलाई पर बँधी हुई घड़ी पर दृष्टि डाली, पर वक्त जैसे कटता ही न था। आख़िर आजिज़ आकर उसने साइकिल निकाली। नौकर को पुकारकर उसे ख़ूब ताकीद से साइकिल साफ़ करने को कहा और तब बाबू दीनानाथ के घर की ओर चल पड़ा।

त्रिवेणी जब बाबू दीनानाथ के घर पहुँचा, उस समय भी सात बजने में बीस मिनट बाकी थे। बैठक में अकेले बाबू

दीनानाथ बैठे हुए थे, अतिथियों में कोई अभी आया न था। इतनी जल्दी पहुँच जाने के कारण त्रिवेणी थोड़ा अप्रतिभ हुआ, लेकिन शीघ्र ही अपने को सँभालकर कहा—मैं एक जगह जरूरी काम से गया हुआ था, वहीं से सीधे आ रहा हूँ। वक्त के पहले आ गया हूँ, इसके लिए माफ़ी चाहता हूँ।

बाबू दीनानाथ ने कहा—माफ़ी कैसी त्रिवेणी? तुम तो घर के आदमी हो। वक्त के पहले तुम्हें आना ही चाहिए। आओ, बैठो।

त्रिवेणी आकर बैठा। उसने पूछा—बाहर के कौन-कौन लोग आये हैं? उसका अभिप्राय संगीतज्ञों से था। बाबू दीनानाथ ने जयपुर, ग्वालियर तथा कलकत्ता के अनेक गुणियों के नाम बतलाए। त्रिवेणी बोला—तब तो बड़ा आनन्द रहेगा। संगीत के प्रति आपका अनुराग सराहनीय है।

बाबू दीनानाथ ने कहा—जान पड़ता है, तुम स्वयं भी कुछ शौक़ रखते हो।

त्रिवेणी ने बनावटी नम्रता का भाव प्रदर्शित करते हुए कहा—हाँ बस शौक ही भर के लिए; न-कुछ के बराबर समझिए। सच तो यह है कि शौक़ होते हुए भी मैं अभी तक कुछ सीख नहीं पाया हूँ। संगीत तो साधना है; और मुझे और कामों से

फ़ुर्सत ही नहीं मिलती कि इस ओर समय दे सकूँ। फिर भी, अवकाश मिला तो कुछ सीखने की इच्छा ज़रूर है।

दीनानाथ बाबू ने कहा—कौन-सा इंस्ट्रूमेंट तुम पसन्द करते हो?

त्रिवेणी बोला—यों ही थोड़ी वायलिन बजा लेता हूँ। कुछ देर और इधर-उधर की बात होती रहीं। अनन्तर प्रोफेसर साहब ने पूछा—त्रिवेणी, कुछ भुवन की भी खबर मिली है? मैं तो उसके बाद से उससे मिलने जा ही नहीं सका।

त्रिवेणी बोला—जा तो मैं भी नहीं सका, लेकिन कुछ मित्र पिछली बार भुवन से मिलने गए थे। उन्हीं से हालचाल मालूम हुआ है।

प्रोफेसर साहब ने कहा—क्या मालूम हुआ है?

त्रिवेणी बोला—जो मालूम हुआ है, वह कुछ अच्छी खबर नहीं है, न ही उसकी सच्चाई पर अभी पूरा भरोसा किया जा सकता है।

प्रोफेसर—आख़िर बात क्या है?

त्रिवेणी—सुना है, कुरौली षड़यंत्र केस में भुवन को भी शामिल करने का प्रयत्न किया जा रहा है। पिछले हफ्ते उनकी तस्वीर ली गई और पहिचान के लिए पुलिस के

पास भेजी गई है। शायद एक आध हफ्ते में वे ख़ुद भी गया भेज दिये जायँगे।

प्रोफ़ेसर साहब ने घबराकर पूछा—यह क्या सच है?

त्रिवेणी बोला—हाँ, सच तो है ही, जो लोग उनसे मिलने गये थे, उनसे स्वयं भुवन ने ही यह बात कही थी।

प्रोफ़ेसर—मुझे तो इस पर विश्वास नहीं होता। भुवन तो शायद इस बीच इलाहाबाद से बाहर कहीं आया-गया भी न था।

त्रिवेणी—जी नहीं, यह बात तो नहीं है। पिछले दिनों अनेक बार वह तीन-तीन चार-चार दिन होस्टल से गायब रहता था, पर क्रांतिकारियों के साथ उसका संपर्क होगा, इस बात पर मुझे भी विश्वास नहीं होता।

प्रोफ़ेसर साहब चौंक उठे। उन्होंने त्रिवेणी का हाथ पकड़कर पूछा—त्रिवेणी, तुम सच कहते हो? वह तीन-तीन चार-चार रोज़ होस्टल से गायब रहता था? तुम लोगों ने कभी पूछा नहीं कि वह कहाँ जाता है, क्या करता है? तुमसे तो उसकी विशेष बन्धुता भी है शायद!

त्रिवेणी बोला—भुवन के स्वभाव में इधर एक आश्चर्यजनक परिवर्तन हो गया था। वह हमलोगों से बहुत कम मिलता-जुलता और बातचीत करता था। अपने कमरे में अकेला

दिनभर बैठा रहता, अक्सर शाम को बाहर निकल जाता और बड़ी रात गये वापस लौटता था। बीच-बीच में कहीं बाहर भी चला जाया करता था। पूछने पर कुछ ठीक जवाब न देता, हँसकर टाल जाया करता था। इसके सिवा उसका स्वभाव भी कुछ अतिरिक्त गम्भीर हो गया था।

मालूम पड़ा, जैसे इस बात से प्रोफेसर साहब को बड़ा मनः पीड़ा हो रही है। उन्होंने आजिज़ी से त्रिवेणी से पूछा—त्रिवेणी, तुम क्या समझते हो कि भुवन क्रांतिकारी होगा?

त्रिवेणी ने खूब गंभीर होकर सूत्र-रूप में कहा—किसी का हृदय जानना बड़ा कठिन है।

प्रोफेसर साहब का मुँह विवर्ण हो गया था। जान पड़ता था कि त्रिवेणी के उत्तर पर ही भुवन का क्रांतिकारी होना या न होना निर्भर करता है। त्रिवेणी के उत्तर से प्रोफ़ेसर साहब निराश हो गए। हारे हुए-से, एक लंबी साँस खींचकर उन्होंने कहा—तब क्या भुवन को यही परिणति हुई? हे ईश्वर!

इसी समय अतिथि-गण आने लगे। प्रोफेसर साहब उठकर स्वागत-सत्कार में लगे। बात जहाँ की तहाँ दब गई।

भोजन समाप्त होने के बाद सब लोग बगीचे में गये। संगीतादि का आयोजन वहीं हुआ था। अपने पिता के साथ संध्या सब के बीच में बैठी। वह एक हल्के हरे रंग की छींटदार

साड़ी और पीली जैकेट पहने हुई, फूल की तरह खिली, थी। आगत सज्जनों ने अब संध्या के प्रति शुभ-कामनाएँ प्रकट कीं और उसे अनेक प्रकार के भेंट दिये। तब संगीत की व्यवस्था आरंभ हुई। शुरू में एक दस वर्ष के बालक ने अपने कलापूर्ण नृत्य से मण्डली में जान-सी डाल दी। तब एक सितारिए ने सितार बजाया। प्रोफ़ेसर कुलकर्णी और प्रोफ़ेसर दीनानाथ के आग्रह से त्रिवेणी ने भी वायलिन बजाया। वायलिन के करुण स्वर से उसने कुछ ऐसी तन्मयता और बेसुधी लोगों में भर दी कि चारों ओर सन्नाटा-सा खिंच गया। प्रोफ़ेसर दीनानाथ ने उसकी बड़ी प्रशंसा की। संध्या ने विमुध होकर त्रिवेणी की इस कला को मन-ही-मन सराहा। उसकी एक ही दृष्टि से त्रिवेणी ने अपने को कृतार्थ माना। आज अपनी कला के आकर्षण से उसने पहली बार संध्या के हृदय में अपने लिए थोड़ा-सा स्थान बना लिया।

संगीत का रंग क्रम से गहरा जमता गया। संध्या तो बारह बजे के लगभग अंदर चली गई, पर संगीत का उस रात के तीन बजे तक प्रवाहित होता रहा। तीन बजे के बाद जब सब लोग अपने-अपने घर की ओर चले तो त्रिवेणी का हृदय प्रसन्नता से उछल रहा था। संध्या उस समय एक दुःस्वप्न देखकर जाग गई थी।

[१७]

शेष रात्रि संध्या ने जागकर ही काटी। अनेक विचार उसके मन में आये और उसे विकल-विह्वल बनाकर विलीन हो गये। अन्य विचारों के बीच में, आज पहली बार, त्रिवेणी का भी खयाल उसे आया। अभी तक वायलिन की करुण-मधुर रागिनी की मूर्च्छना जैसे उसके श्रवणों में झनझना रही थी!

इन तमाम असंबद्ध विचारों के बीच में सहसा जाग उठी भुवन की भुवनमोहिनी मूर्ति। संध्या ने इधर महीने भर से भुवन को नहीं देखा, न उसकी कुछ खबर ही पाई है। आज, रात्रि के इन शांत-नीरव क्षणों में, भुवन जैसे संध्या के मानस चक्षुओं में मूर्त-सा हो उठा। भुवन इस समय क्या कर रहा होगा?—शायद जाग ही रहा हो और शायद संध्या की याद भी कर रहा हो!

संध्या की कल्पना में भुवन की एक तस्वीर खिंची। उसने जेल की शक्ल कभी देखी नहीं, किन्तु अपनी आँखों से जेल को न देखने पर भी, इस युग में गाँधी जी के प्रताप से जेल किसी के लिए बिलकुल अज्ञात-अपरिचित वस्तु नहीं है। इसी से संध्या की कल्पनामयी आँखें जैसे भुवन को अपने सम्मुख ही देख रही हैं—भुवन अपने बारिक में बन्द है। दाढ़ी और बाल बढ़ गए हैं, शरीर की कान्ति मलिन पड़ गई है। लोहे की

चारपाई में पिस्सुओं का राज्य है और शून्य में मच्छरों का संगीत पूर्ण ताण्डव। शिशत की गर्मी अलग पड़ रही है। भुवन को नींद नहीं आती। अपने बारिक के आँगन में उगी दूब पर वह टहल रहा है। अष्टमी का आधा चन्द्रमा पच्छिम की ओर ढल पड़ा है। नीम के वृक्षों के अंतराल से उसका प्रकाश छन-छनकर आ रहा है। जेल का यह निःसंग जीवन, रात्रि को यह निर्जन घड़ी, भुवन के मन में कौन विचार, कौन चिंता और कौन प्रेरणाएँ उत्पन्न कर रही होंगी? क्या उन्हें मेरा भी ध्यान आता होगा? भुवन के मन में अब न जाने मेरे लिए क्या विचार होंगे? क्या वे मुझे अब भी प्रेम करते होंगे? जेल का जीवन शायद उन्हें कठोर और तपस्वी बना देगा। राष्ट्र के लिए जीवन को उत्सर्ग करनेवाले तपस्वी के हृदय में संध्या का स्थान कहाँ होगा?.....लेकिन, संध्या तो वहाँ स्थान पाने के लिए याचक होकर कभी नहीं गई। पिता ने योग्य समझकर भुवन को अपना जामाता बनाने का निश्चय किया था और यह बात भुवन तथा संध्या को मालूम हो गई थी। बस, इतना ही तो? उसके पिता ने शब्दों-द्वारा कभी भुवन पर अपना यह मंतव्य प्रकाशित नहीं किया, न ही संध्या ने उनके प्रति अपना अनुराग प्रकट किया था। उसके पिता भुवन से उसकी शादी करने का इरादा रखते हैं, यह

जानकर भुवन ने ही पहले पहल उसे पत्र लिखकर उस पर अपना प्रेम प्रकट किया था। संध्या क्या भुवन को प्यार नहीं करती थी?—वह इस बात से इंकार नहीं कर सकती कि भुवन के लिए उसके मन में एक आकर्षण था, किंतु मित्रता के सहज स्नेह से अधिक उस भाव को उसने कभी प्रश्रय नहीं पाने दिया। संध्या को भुवन के उस पत्र की याद आई। उस पत्र का अभिप्राय ही क्या था भला? स्वयं तो मुझे प्यार करते हैं, पर मुझे उपदेश देते हैं कि उनके प्रति मैं आकर्षित न होऊँ, उन्हें प्यार न करूँ, मन में उनके लिए ऊँची-ऊँची कल्पनाएँ न करूँ, वे मेरे योग्य नहीं हैं। मेरे स्वप्नों को सफल बनाने की क्षमता उनमें नहीं है। यदि यही बात थी तो उन्होंने अपना प्रेम ही मुझ पर क्यों प्रकट किया? क्या शिक्षिता होने पर भी हिंदू संस्कारों से जकड़ी एक बालिका के हृदय को जीवन-भर के लिए अशान्त और चंचल बनाने के लिए? संध्या के मन में किंचित रोष का भाव उत्पन्न हुआ।

ठीक इसी समय एक अद्भुत घटना हुई। संध्या को मालूम पड़ा जैसे भुवन उसके सामने खड़ा है, दीन, लज्जित, कुम्हलाया हुआ। उसने संध्या की ओर देखकर संकोच-भरे स्वर में कहा—प्यारी संध्या, मैं तुम्हें प्यार करता हूँ। एक क्षण के लिए भी तुम्हें भूल नहीं पाता।

सचमुच ही ये शब्द उसने सुने। एक हलकी-सी चीख उसके मुँह से बरबस निकल गई। अपने कानों पर उसे विश्वास न हुआ। सोकर जागे हुए के समान चौंककर उसने देखा, उदय होते हुए सूर्य की प्रथम किरणें उसकी खिड़की में प्रवेश कर रही हैं। पूर्व में आकाश लोहित वर्ण से रँग उठा है। शरीर में पुलक उत्पन्न करनेवाली दक्खिनी हवा चलने लगी है। नया जीवन, नई स्फूर्ति और नया उत्साह लेकर धरित्री मुस्कुरा रही है।

[८]

संध्या दरवाजे पर ही ठिठककर खड़ी रह गई। कमरे में दीनानाथ बाबू कल्याणी से बातें कर रहे थे। संध्या लौटी जा रही थी कि भुवन का नाम सुनकर रुक गई। कौतूहल से दरवाजे की ओट खड़ी होकर पिता-माता की बातें सुनने लगी।

दीनानाथ बाबू ने कहा—सुना, भुवन को तो शायद अब जेल से बाहर नहीं आना है।

कल्याणी ने घबराकर पूछा—क्यों? क्या हुआ?

"उसपर शायद षड्यंत्रकारी होने का सन्देह किया जा रहा है और कुरौली-केस में उसे शामिल करने का प्रयत्न भी हो रहा है।"

"तुम्हें कैसे मालूम हुआ ?"

"कल त्रिवेणी से बातें हुई थीं।"

"वह भुवन के पास गया था क्या ?"

"नहीं, वह स्वयं तो नहीं गया था, पर उसके मित्र गये थे।"

"हाँ……।"

"वे ही कह रहे थे कि भुवन ने ऐसा कहा है। पहिचान के लिए भुवन की तस्वीर भी ली जा चुकी है।"

"अब क्या होगा ?"

"होना क्या है ? एक प्रतिभाशाली नवयुवक की जिन्दगी बर्बाद होगी।"

"भुवन तो ऐसा लड़का न था ! अहा, कैसा शीलवान, शर्मीला और गंभीर स्वभाव का था। उसे यह क्या सूझी कि इस उत्पात में पड़ा ?"

दीनानाथ बाबू ने किंचित गंभीर होकर कहा—इस उत्पात में पड़ने के लिए भुवन की निन्दा नहीं की जा सकती। देश की जैसी हालत है, उसे देखते हुए प्रत्येक सहृदय और देशप्रेमी नवयुवक का वही कर्तव्य है, जो भुवन ने किया है, लेकिन……

"तो भुवन के छूटने का अब कोई उपाय नहीं है ?"

"ना"

"भला झूठ ही उसे षड्यंत्र के मामले में सज़ा दे देंगे? भुवन और चाहे जो कुछ करे, पर ऐसा नासमझ तो नहीं है।"

"भुवन नासमझ हो या समझदार, लेकिन सरकार अगर उसे अपने लिए ख़तरनाक समझती है तो किसी न किसी उपाय से अपने रास्ते से अलग करेहीगी।

कल्याणी कुछ चिन्तित-सी होकर चुप हो रही।

थोड़ी देर चुप रहकर दीनानाथ बाबू ने कहा—देखो, मैं आज ज़रा उससे मिलने जाऊँगा। वह शायद इसी हफ्ते गया भेज दिया जायगा। फिर मुलाक़ात भी न हो सकेगी। कुछ खाने-पीने का सामान तैयार कर देना, थोड़ा फल वल भी मँगवा लेना।

कल्याणी ने पूछा—बिटिया भी जायगी?

दीनानाथ बाबू ने कहा—न, मैं उसे यह सब नहीं जानने देना चाहता। वह बहुत दुखी होगा। ..ग़लती मेरी ही है...

दीनानाथ बाबू चिंतित और गंभीर हो गये।

कल्याणी ने एक उसाँस लेकर कहा—भुवन की आशा तो अब छोड़ ही देनी पड़ेगी!

दीनानाथ बाबू ने दुखी स्वर में कहा—मैं उसी के भरोसे निश्चिन्त बैठा हुआ था....., बड़ा टेढ़ा मामला है। अरे, संध्या की शादी तो रुकी नहीं जाती, लेकिन बात बहुत बढ़ गई थी।

ग़लती मेरी ही है, लेकिन मैं क्या जानता था.....। खैर, देखा जायगा।

दीनानाथ बाबू तो संध्या से ये बातें छिपाना चाहते थे, पर संध्या ने सब जाना, सुना। उसके पैरों के नीचे से धरती खिसकती हुई-सी जान पड़ी, आँखों में अंधेरा छा गया, सर घूम गया। क्षणभर दीवार के सहारे वह वहीं खड़ी रही, फिर धीरे-धीरे अपने कमरे में चली गई।

लेकिन दीनानाथ बाबू जब जाने के लिए तैयार हुए तो कपड़े पहनकर संध्या भी आ गई। उसने कहा—बाबूजी, आपके साथ मैं भी चलूँगी।

संध्या का स्वर शान्त था, संयत, गंभीर। दीनानाथ बाबू ने आश्चर्य से कन्या के मुँह की ओर देखा। वह आँखें नीची किये हुए खड़ी थी। उसके मुँह पर दृढ़ निश्चय का भाव देखकर दीनानाथ बाबू ने न उससे कुछ पूछा, न कहा; दोनों चुपचाप बाहर आकर ताँगे पर बैठे। तांगा चल पड़ा।

संध्या के मन में आज एक अद्भुत दृढ़ता का भाव उत्पन्न हुआ था, लेकिन फिर भी उसका हृदय रह रहकर काँप उठता था। आज वह भुवन से मिलने जा रही थी, शायद इस जीवन में अन्तिम बार के लिए। उसके मन में आँधी-सी चल रही थी, पर सम्मुख पिता बैठे थे।

ताँगा चला जा रहा था।

[१९]

कल्पनाएँ मनुष्य को पागल बना देती हैं और उस पागलपन में बड़ा सुख मिलता है; लेकिन यह सुख स्थायी नहीं होता, क्योंकि कल्पित पागलपन देर तक टिकता नहीं, वास्तविकता से टकराते ही कच्चे घड़े की तरह चूर-चूर हो जाता है और उस सुखद अनुभूतिवाले पागलपन को खो देता है। संसार की नग्न कठोरता सत्य बनकर सम्मुख आता है, तब मनुष्य सोचता है—यह संसार कल्पनाओं का स्वप्न ही क्यों न हुआ?

फलों के बीच में सन्ध्या की चिट्ठी का आभास पाकर अपने बारिक में लौटते हुए भुवन उन्मत्त हो गया था! उन्मत्त के समान ही उसने उस चिट्ठी को बार-बार चूम लिया था। बिना पढ़े ही उसकी कल्पनाओं ने उस चिट्ठी को प्रत्येक पंक्ति को उसकी आँखों के सम्मुख सजीव बनाकर उपस्थित कर दिया था। उस चिट्ठी के लिए उसने न-जाने कैसी-कैसी असम्भव कल्पनाएँ कर डाली थीं। हाँ, मनुष्य का मन ऐसा ही कल्पना-प्रवण है। धड़कते हुए हृदय से, अपने कमरे में जाकर, उसने पत्र पढ़ा। पढ़कर उसके असन्तुष्ट हृदय को शांति नहीं मिली। असंतोष और बढ़ गया। हाय वह अपनी कल्पनाओं में कैसा मग्न था!

उसने पत्र न पढ़ा होता तभी वह सुखी रह सकता था। पत्र ने उसके कल्पना-सुख को नष्ट कर डाला था।

पत्र में लिखी थीं केवल चार-छः पंक्तियाँ, रूखी, उदास।—"एक बार आपने मुझे पत्र लिखा था, मैं उसका उत्तर न दे सकी थी। आज मैं आपको लिख रही हूँ, आप भी इसका उत्तर न दे सकेंगे। आपके इस तरह जेल चले आने से सब लोग बहुत दुखी और चिन्तित हुए हैं। आपके जेल की अवधि शीघ्र समाप्त हो और आप सकुशल वापस आवें, यही हमारी कामना है।" बस, इससे अधिक और कुछ भी नहीं। भुवन के जेल चले आने से सब लोग दुखी और चिन्तित हैं, पर संध्या के मन में शायद वह दुख और चिन्ता व्याप्त नहीं हुई। इस बात ने भुवन के हृदय को छेद-सा दिया। वह तिलमिला उठा। एक दिन उसके पत्र के संबन्ध में भी संध्या ने ऐसी ही बातें की थीं, जिससे उसे आभास मिला था कि संध्या उसे प्यार नहीं करती; आज यह पत्र भी उसी का साक्षी बनकर आया है। तब क्या भुवन मरीचिका में ही भूला हुआ है? यह इतना पार उसके जी में क्यों उठती है? व्यर्थ ही? भुवन अधिक नहीं सोच सका, फिर भी उसने बार-बार उस पत्र को पढ़ा और आँखों के जल से उसने उसका अभिषेक किया।

उस घटना को लगभग एक महीना बीत चुका है, पर

भुवन उसे भुला नहीं सका। इस महीने भर के बीच में संध्या को एक बार भी उसने नहीं देखा, उसकी कुछ खबर भी नहीं पाई, पर उसकी स्मृति हमेशा उसके मन में कसक-कसक उठती थी। इस एक ही महीने में कितना परिवर्तन हो गया है! जीवन की समस्त रंगीन आशाओं और कल्पनाओं का जलाजलि देकर आज वह षड्यंत्र-केस का उम्मीदवार बना हुआ है। माता-पिता रो-रोकर प्राण दे रहे हैं, जीवन में जिसे उसने हृदय की गम्भीरतम अनुभूति के साथ प्यार किया है, वह उसके प्रति उदासीन है; जीवन में अब उसे कोई आशा नहीं, कोई आकांक्षा नहीं कोई अरमान नहीं, पर वह स्थिर है, गंभीर। परिस्थितियाँ मनुष्य को बल देती हैं और अपने अनुकूल कठोर से कठोर तथा सहनशील बना लेती हैं। दुनियाँ में जिन्दा रहने के लिए मनुष्य के पास यह इतना ही तो सहारा है!

आशाएँ न हों तो निराशाएँ मनुष्य को इतना व्यथित नहीं करतीं, लेकिन मनुष्य का यह स्वभाव है कि वह निरर्थक आशाओं के पलने पर झूला करता है। भुवन ने बड़ी-बड़ी आशाएँ मन में पाल रखी थीं, इसी से अन्त में उसे दुखी और निराश होना पड़ा; किन्तु इधर उसके स्वभाव में एक आश्चर्यजनक परिवर्तन हुआ है। जब से षड्यंत्र-केस में उसे शामिल करने का आयोजन हुआ है, तब से सहसा वह बड़ा गम्भीर

हो गया है। उसके मन को एक अलौकिक बल और दृढ़ता प्राप्त हुई है। अब उसे मन के दुर्बल भाव व्यथित नहीं बनाते। दुर्बलताएँ आती हैं, पर वह उन्हें हँसकर टाल देता है। एक प्रकार से यह उसे निश्चय हो गया है कि उसके जीवन का अन्त इन्हीं दीवारों और सीखचों के अन्दर होगा। अब उसे देश और समाज के हलचलों में भाग न लेना पड़ेगा। दुनियाँ के सुख-दुख से अब उसका कोई सम्पर्क न रह जायगा। उसका अपना एक संसार होगा और अपनी चिन्ताएँ। घर-परिवार की चिन्ताओं से अपने मन को व्यथित करके भी वह घर या बाहर के किसी काम न आ सकेगा। फिर उस चिन्ता में अपने को गलाने से लाभ ही क्या है? अब वह समाज का प्राणी न होकर एकान्तवासी योगी होगा। उसे दुनिया की चिन्ता करने का अधिकार ही क्या है? इन विचारो ने भुवन को बल दिया है और सहनशक्ति। फिर भी कभी-कभी वह विचलित हो जाता है और इन-उन बातों के लिए उसका हृदय हाहाकार करने लगता है। तब मन को संयत करना बड़ा कठिन हो जाता है। किन्तु यह स्थिति देर तक नहीं रहती, परिस्थिति का ज्ञान मन को फिर सबल बना देता है।

आज रविवार है। पिछली बार माता-पिता भुवन को देखने आये थे। भुवन ने सब परिस्थिति उनको बतला दी और दृढ़

रहने के लिए कहा। इस बार वह यहाँ रहेगा या गया चला जायगा, इसका निश्चय न होने के कारण पुनः आने को उन्हें मना कर दिया था, लेकिन आज रविवार है। अन्य कैदियों के सम्बन्धी उनसे मिलने आवेंगे। भुवन भी अपने किसी मिलने-वाले को पाने के लिए उत्सुक हो रहा है! पर कौन आवेगा? सबको वह अपने चले जाने की सूचना दे चुका है। सब लोग उससे मिल चुके हैं, केवल दीनानाथ बाबू ही इधर कई हफ्तों से नहीं आये। न जाने क्यों नहीं आये? क्या वे आज आवेंगे? सन्ध्या भी उनके साथ होगी?.....आज सन्ध्या को अन्तिम बार देख लेने के लिए उसका हृदय विह्वल हो उठा। सन्ध्या के लिए अपने को अयोग्य समझकर उसने उसको अपने से अलग ही रखना चाहा था, आज शायद वह स्वयं ही सदा के लिए अलग हुआ जा रहा है, किन्तु इस चिर-विच्छेद के पहले क्या वह एक बार सन्ध्या को देख भी न सकेगा? यदि देख पाता, तो इस अन्तिम दर्शन की स्मृति को मन में जागरूक रखकर, इसी स्मृति की उपासना में तल्लीन, वह अपने जीवन के शेष दिन बिता देता! किन्तु कौन जानता है, सन्ध्या से मुलाक़ात हो सकेगी या नहीं?

भुवन इन्हीं चिन्ताओं में डूब-उतरा रहा था कि सन्तरी ने उसे दो मिलनेवालों के आने की ख़बर दी। कल्पनाओं ने फिर

भुवन को बेहोश बनाना शुरू किया। उसका हृदय प्रसन्नता से नाच उठा। उसका जी हुआ कि सन्तरी से पूछ ले कि उन दो में एक स्त्री है या नहीं, लेकिन यह पूछने का उसे साहस न हुआ—कहीं उसका स्वप्न भंग न हो जाय! मन में कल्पनाओं का जाल बुनते हुए वह फाटक की ओर चला।

लेकिन स्वप्न नहीं, मिथ्या कल्पना भी नहीं, फाटक पर सचमुच ही संध्या के साथ प्रोफ़ेसर दीनानाथ मिले। हृदय का स्पन्दन जैसे बन्द होता आ रहा था, धमनियों में रक्त का प्रवाह रुकने लगा, अङ्ग-अङ्ग शिथिल हो आये, किन्तु एक क्षण के लिए। दूसरे क्षण फिर वही तेजस्विता, वही हँसमुख चेहरा, गंभीर किन्तु कान्तिपूर्ण। हँसते हुए भुवन ने प्रोफ़ेसर साहब को अभिवादन किया, संध्या के नमस्कार का उत्तर दिया और कहा—आपने बड़ी कृपा की।

पता नहीं, दीनानाथ बाबू ने भुवन की बात सुनी भी या नहीं। वे चिन्तित, उदास, चुप, थोड़ी देर खड़े रहे। फिर अस्फुट स्वर में उन्होंने पूछा—भुवन, यह सब क्या सच है?

भुवन फिर हँसा—आप किसकी बात पूछ रहे हैं?

"यही, तुम्हारे बारे में जो सुना है।"

भुवन ने ला-परवाही से कहा—हाँ उसमें झूठ तो कुछ है

नहीं; मैं यहाँ से गया भेजा जा रहा हूँ। शायद दो-एक रोज में चला जाऊँगा। अच्छा हुआ, जाते-जाते आपके दर्शन हो गये।

"तुम पर शायद कोई नया चार्ज लगाया जानेवाला है!"

भुवन ने हँसकर कहा हाँ जिन्दगी में कुछ-न-कुछ नयी बात होती रहे तो अच्छा ही है।

प्रोफेसर साहब ने गंभीर स्वर में कहा---देखो भुवन, तुम एक होनहार और मेधावी छात्र थे, तुमसे मुझे बड़ी-बड़ी आशाएँ थीं, लेकिन तुमने अपने को ऐसे जाल में फाँस लिया जहाँ से उतरना बड़ा मुश्किल है; लेकिन, अब भी समय है और तुम चाहो तो अपने जीवन को नष्ट होने से बचा सकते हो।

भुवन ने अनिश्चितापूर्वक कहा -लेकिन मुझे तो ऐसी आशा नहीं है।

"नहीं, अभी समय है, तुम बच सकते हो।"

"कैसे?"

"देखो, मनुष्य का जीवन बहुमूल्य है और एक सनक के पीछे उसे नष्ट कर देना किसी तरह बुद्धिमानी नहीं कही जा सकती। मैं कहता हूँ, तुम माफी माँग लो। इसमें हानि ही क्या है?"

"माफी?"---भुवन उपेक्षापूर्वक मुस्कराया---"आप बड़े

हैं. पूज्य हैं, पिता-तुल्य हैं, लेकिन मनुष्य का जन्म क्या बार-बार मिलेगा ?"

इस एक प्रश्न से भुवन ने जो कुछ कहा, प्रोफ़ेसर साहब के पास उसका कोई उत्तर न था। वे चुप हो गये। उन प्रौढ़-वयस्क प्रोफेसर की आँखें सजल हो उठीं।

भुवन ने यह देखा। उनके स्नेह की गंभीरता का उसने अनुभव किया। बोला—यदि आप मुझ पर स्नेह रखते हैं तो मेरे बलिदान के लिए आपलोगों को सच्ची प्रसन्नता होनी चाहिए। मेरे लिए यदि आपलोग दुखी होंगे तो मैं किस तरह शांत और दृढ़ रह सकूँगा !

प्रोफेसर साहब ने रुँधे गले से कहा—"भुवन, मैं पिता हूँ। तुम्हें मैंने अपना पुत्र ही समझा था। पिता के हृदय की दुर्बलता तुम नहीं समझ सकते। ख़ैर भगवान को अगर यही मन्जूर था तो तुम्हें उन्हीं के भरोसे छोड़ता हूँ। संध्या, बेटी तू क्या लाई है भुवन के लिए, दे दे। अब मुझसे खड़ा नहीं रहा जाता।" कहकर भुवन की ओर बिना देखे ही प्रोफेसर साहब लौट पड़े।

संध्या ने मुँह फेरकर आँखें पोंछते-पोंछते अबतक सारा रूमाल भिगो लिया था। अब वह बढ़ी। उसने गठरी भुवन को दे दी। अश्रुपूर्ण नयनों से एक बार भुवन की ओर देखा।

"संध्या, हम फिर शायद इस जीवन में कभी न मिल पावेंगे, लेकिन इसके लिए तुम दुखी न होना। कभी-कभी मुझे याद कर लेना।"

संध्या कुछ न बोल सकी। लौटते हुए पिता की ओर देख-कर, झटपट झुककर उसने भुवन के चरण-स्पर्श किये। हृदय की श्रद्धा के निदशन दो बूँद आँसू अनजान ही भुवन के चरणों पर गिर पड़े। संध्या भुवन की ओर फिर देखे बिना पिता के पीछे चल पड़ी।

[२०]

साधारण मरहम शरीर के फोड़ों का घाव भरते हैं, पर समय का मरहम हृदय का घाव भरता है। समय के अतिरिक्त इस घाव की दूसरी दवा नहीं। नहीं, दवा है, पर वह लगता बहुत है। आशाएँ जब कुण्ठित हो जाती हैं, हृदय का घाव तब भी पुरने लगता है, लेकिन एक जीवन-व्यापी कसक को साथ लेकर। उस वेदना का मजा कोई क्या जाने?—इसी से लोग छटपटाते, दुखी होते, जीवन को भार मानते हैं।

पिछले अध्याय में वर्णित घटना को छः मास हो चुके हैं। अबतक भुवन जेल से छूटकर आ गया होता, लेकिन उस पर गया में षड्यंत्र-केस चल रहा है और न जाने कबतक वह चलता

रहेगा ! संध्या अखबारों में मुक़दमे का विवरण पढ़ा करती है और एक लम्बी साँस खींचकर रह जाती है। भुवन तब भी एक सपना था, अब भी सपना ही है—तब आशा की रंगीन किरणों से चमकता हुआ, अब निराशा के अन्धकार से युक्त, खोया हुआ। स्वप्न का तो अर्थ ही है मिथ्या, माया; लेकिन उस मिथ्या के अन्दर भी मनुष्य सुख और दुख की कल्पना कर लेता है। संध्या ने भी यही किया था।

समय बीतता जाता था, लोगों के मन से भुवन की स्मृति-वेदना कम होती जाती थी। इन दिनों त्रिवेणी ने बाबू दीनानाथ को इतना अनुकूल बना लिया था कि उन्होंने संध्या को उसे सौंप देने का निश्चय-सा कर लिया था। कल्याणी भी त्रिवेणी पर प्रसन्न था। त्रिवेणी अब इसी घर का एक आदमी था। हाँ, संध्या के मन की बात कोई न जान सका था।

उस दिन शाम को जब संध्या स्कूल से लौटकर आई तो उसका बदन टूट रहा था, आँखें जल रही थीं, बड़ा आलस्य मालूम पड़ रहा था। वह कपड़े बदलकर चुपचाप अपने कमरे में जा पड़ी।

थोड़ी देर में त्रिवेणी पहुंचा—बड़ी तैयारी करके आया था, जैसे कहीं दावत में जा रहा हो। कल्याणी ने संध्या के कमरे में

पैर रक्खा ही था कि त्रिवेणी भी आ पहुँचा। संध्या लेटी थी, उठकर बैठ गई।

त्रिवेणी ने बैठते-बैठते संध्या से कहा—देखिए, आज तो आपको चलना ही पड़ेगा।

संध्या ने हँसकर पूछा—कहाँ?

"पैलेस—वहाँ टाल्सटाय का रिजरेक्शन चल रहा है।"

"लेकिन मैं तो न जा सकूँगी। मेरी तबीयत आज ठीक नहीं है।"

"आप तो हमेशा ऐसे ही कहती हैं। आज तो आपको चलना ही पड़ेगा।"

"नहीं सचमुच आज मेरी तबीयत बहुत ख़राब है। उठकर बैठने को भी जी नहीं चाहता।"

कल्याणी ने कहा—बेटी; ऐसे घर बैठे-बैठे तो जी भारी हो ही जाता है। इतना कहते हैं तो जाकर घूमही क्यों नहीं आती? जी भी दूसरा होगा, इनकी बात भी रह जायगी।

"नहीं अम्मा, तबीयत ठीक होती तो मैं ज़रूर चली जाती। आज तो बदन बहुत टूट रहा है। कहीं बुख़ार न आ जाय।

"अच्छा, आज न सही; लेकिन कल मैं कोई बहाना न सुनूँगा। कल तो आप को चलना ही पड़ेगा।"

"अच्छी बात है। कल की कल देखी जायगी।" कहकर संध्या ने छुटकारा पाया।

थोड़ी देर बाद, "जाऊँ तुम लोगों के लिए कुछ जलपान ले आऊं" कहकर कल्याणी कमरे से चली गई। कलुआ ने आकर बत्ती जला दी।

सध्या खुली खिड़की से आसमान की ओर देख रही थी और त्रिवेणी टकटकी लगाकर उसके मुँह की ओर। बीच में जब कभी संध्या त्रिवेणी की ओर देख लेती, त्रिवेणी अप्रतिभ होकर आँखें नीची कर लेता था। थोड़ी देर इसी तरह बीत गया। आखिर त्रिवेणी ने शांति भंग की—संध्या, तुम कब तक मेरे साथ ऐसा व्यवहार करती रहोगी?

आज त्रिवेणी ने पहली बार संध्या को 'तुम' कह कर सम्बोधित किया है, इसी से उसका स्वर कांप रहा है और जैसे अपनी सारी शक्ति को वाणी में संयमित करके बोलने का प्रयत्न वह कर रहा है। संध्या जैसे किसी गहरे विचार से चौंक उठी हो, इस तरह घबराकर बोली—कैसा?

"ऐसा ही—निष्ठुरतापूर्ण!"

संध्या चुप रही। फिर ध्यानस्थ होकर खिड़की के बाहर देखने लगी।

"संध्या, मुझे कब तक प्रतीक्षा करनी पड़ेगी?

"प्रतीक्षा ?—किस बात की प्रतीक्षा ?" त्रिवेणी की ओर दृष्टि फिराए बिना ही संध्या ने पूछा।

"संध्या, मैं एक बात पूछूं ? जवाब दोगी ?"

"मेरे पास होगा तो जरूर दूंगी।"

"संध्या, मेरी बातों को उपेक्षा से टालो मत। मैं जो पूछता हूँ, उसका ठीक-ठीक जवाब तुम दे सकोगी ?—दोगी ?"

"मैं कह नहीं सकती, फिर भी चेष्टा करूंगी।"

"चेष्टा नहीं, संध्या; मैं तुमसे प्रार्थना करता हूं, तुम मेरी बातों का ठीक-ठीक जवाब दो।"

"पूछिए !"

"पहले मैं यही पूछता हूँ कि तुम मेरी इतनी उपेक्षा क्यों करती हो ?"

"उपेक्षा ?—उपेक्षा तो मैं किसी की नहीं करती, मेरा स्वभाव ऐसा ही नहीं है। आपको भ्रम हुआ है। अधिक बोलने का मेरा स्वभाव नहीं, शायद इसे ही आपने उपेक्षा समझ लिया है। आपकी उपेक्षा भला मैं क्यों करूँगी ?"

"संध्या, बहुत दिनों से तुमसे कहने के लिए मैं अपने हृदय में एक बात छिपाये हुए हूँ, लेकिन साहस नहीं होता था। आज……।"

"आज ही यह साहस कहाँ से आ गया ?"

"संध्या, देखो, तुम फिर मज़ाक कर रही हो। मेरी बात तुम नहीं सुनोगी ?"

"कहिए ?"

"संध्या, मैं तुम्हें प्यार करता हूँ।"

"इसमें बुरा क्या है ?"

"अच्छा-बुरा नहीं। बोलो, तुम भी मुझे प्यार करती हो या नहीं ? तुम्हारे एक शब्द पर मेरे जीवन का निर्णय निर्भर है। संध्या, मुझे क्षमा करो; तुम्हारे बिना मेरा जीवन……"

त्रिवेणी अपनी बात पूरी भी न कर पाया था कि मिसरानी ने खाँसते हुए कमरे में प्रवेश किया—बिटिया, जलपान कर लो। तुम्हें तो आजकल न जाने क्या हो गया है कि स्कूल से आते ही पड़ जाती हो !……

जलपान की रकाबियाँ मेज़ पर रखकर मिसरानी जाने लगी तो संध्या ने रोककर पूछा—मिसरानी, तुम्हारे बद्रीनाथ जाने का क्या हुआ ?

"अभी कहाँ ठीक हुआ बिटिया, बाबूजी कुछ सहारा दे देते तो पार लग जाती। गाँव से कई लोग जानेवाले हैं, उन्हीं के साथ मैं भी हो आती। अब चौथेपन में भी तीरथबर्त न किया बेटी, तो……" कहकर मिसरानी ने अपना इतिहास प्रारम्भ कर दिया।

त्रिवेणी मर्माहत होकर क्षणभर मिसरानी और संध्या का संवाद सुनता रहा, फिर विषण्ण मन से बोला—अच्छा, अब मैं चलता हूँ।

जलपान की तश्तरियाँ पड़ी ही रहीं। त्रिवेणी उठकर चला गया।

[२१]

प्रोफेसर दीनानाथ ने जीवन को हमेशा एक खेल समझा है। और वे उससे खेले हैं। चिन्ताओं को उन्होंने मन में कभी स्थान ही नहीं दिया। हर हालत में खुश रहे और निश्चिन्त। स्वयं जैसे सरल थे, दुनियाँ को भी वैसा ही समझते थे। लेकिन इधर कुछ दिनों से उनके मन में एक चिन्ता ने घर कर लिया है। वह चिन्ता संध्या के विवाह की है। अब तक वे संध्या का विवाह टालते आये थे। अबतक उन्होंने यही समझा था कि जैसे दिनभर के और काम हो जाते हैं, वैसे ही एक दिन विवाह भी हो जायगा। भुवन जेल न चला गया होता तो शायद होता भी ऐसा ही। दीनानाथ बाबू के मन में न जाने कैसे उसने अपने लिए इतनी आत्मीयता और स्नेह का भाव जाग्रत कर लिया था कि उसके जेल चले जाने से वे कुछ दिनों तक संध्या के विवाह की ओर से उदासीन-से हो गये थे। लेकिन संध्या का विवाह अब और नहीं टाला

जा सकता। कल्याणी उन्हें चैन नहीं लेने देती। वे भी समझते हैं कि इस तरह कितने दिन काम चलेगा? लेकिन सुपात्र की खोज में लोटा-डोर बाँधकर वे यात्रा करें, यह उनके लिए संभव नहीं है। तब संध्या के लिए उपयुक्त पात्र कैसे जुटे? दीनानाथ बाबू के कोई और संतान नहीं है—संध्या को उन्होंने पुत्र से कम नहीं समझा, लेकिन आज वे अपने पितृत्व के लिए खोझ-खोझ उठते हैं। हिन्दू-परिवार में कन्या का पिता होना सचमुच ही दुर्भाग्य की बात है!

और यह जो त्रिवेणी अचानक ही आ जुटा है, यह क्या संध्या के लिए उपयुक्त होगा? दीनानाथ बाबू उसमें कोई दोष नहीं देखते, लेकिन फिर भी अकारण ही उसके प्रति मन में बहुत प्रिय भाव नहीं उठते। क्यों नहीं उठते, यह कोई पूछे तो वे जवाब न दे सकेंगे; शायद भुवन के प्रति अत्यधिक स्नेह इस का कारण हो! दीनानाथ बाबू भाग्यवादी नहीं हैं। जो लोग भाग्य की दुहाई देते हैं, वे उन्हें आकर्मण्य और पुरुषार्थहीन समझते हैं। लेकिन, जीवन में कुछ क्षण ऐसे आते हैं; जब मनुष्य ऊबकर उन्हीं बातों पर विश्वास करने के लिए विवश होता है, जिनके प्रति कभी उसके मन में आस्था नहीं रही है। दीनानाथ बाबू भी कभी-कभी सोचते हैं कि संध्या के भाग्य में यदि त्रिवेणी ही है, तो मैं व्यर्थ उसके प्रति बुरे भाव क्यों रक्खूँ?

फिर त्रिवेणी में कोई बुराई नज़र भी नहीं आती। इस तरह दीनानाथ बाबू अपने मन को त्रिवेणी के अनुकूल बनाने की बहुत चेष्टा करते हैं, पर असमंजस उनके मन से जाता नहीं।

आज कालेज से लौटने के बाद, जलपान आदि करके बैठने पर, कल्याणी ने फिर वही चर्चा छेड़ी—देखो जी, बिटिया के ब्याह की ओर तुम्हारा ज़रा भी ध्यान नहीं है। लड़की सयानी हुई। अब अकेलापन उसे अच्छा नहीं लगता। दिन-रात अकेली पड़ी-पड़ी न जाने क्या सोचा करती है। हालत भी दिन-दिन खराब होती जा रही है। अपने बाल-बच्चों की ओर से ऐसी लापरवाही तुम्हीं को शोभा देती है।

दीनानाथ बाबू ने हसकर कहा—तुम्हारे लिए तो मैं हमेशा बुरा ही रहा! अब भुवन तो जेल चला गया.....

"भुवन जेल चला गया तो क्या बिटिया क्वांरी रहेगी..... भुवन इस झगड़े में न पड़ा होता तो कैसी अच्छा जोड़ी होती, लेकिन जब उनका कोई उम्मीद न रही तो दूसरी जगह बात-चीत भी तो करनी चाहिये।

"हाँ, इसी चिंता में तो हूँ मैं; लेकिन बातचीत करूँ कहाँ?"

तुम्हें चिन्ता होती तो ब्याह अब तक हो गया होता। अपने यहाँ यह जो त्रिवेणी आता है, यही क्या बुरा है?"

"बुरा तो कुछ नहीं, लेकिन बिटिया का उसके लिये न जाने क्या सवाल हो! मुझे तो लगता है, जैसे वह उसे पसंद नहीं करती।"

कल्याणी ने गम्भीर होकर कहा--देखो, हम हिन्दू औरतें हैं। हमारी अपनी पसन्द ही सब कुछ नहीं है। माँ-बाप जिसे सौंप दें, वही हमें पसन्द है। भुवन के जेल चले जाने से ही बिटिया अनमनी रहती है। ब्याह हो जायगा तो वह सब भूल जायगी।

"तो तुम्हें त्रिवेणी पसन्द है?"

"तुम्हें नहीं है?"

"मैं तुम्हारी बात पूछता हूँ?"

"हाँ, मुझे तो कोई बुराई नहीं दीखती।"

"बुराई की बात नहीं; लेकिन फिर भी न जाने क्यों मेरे मन में वह जमता नहीं।"

"यह सब वहम की बातें हैं। मेरी सुनो तो ठीक-ठाक करके अब ब्याह कर ही डालो।

"और अगर भुवन मुक़दमे से बरी हो गया? उसे सज़ा न हुई, तो?"

"इस आशा पर कब तक लटके रहोगे? मुक़दमे का जो रंग-ढंग है, उससे तो बरी होने की उम्मेद है नहीं। अगर किसी

तरह बरी हो भी गया तो खाने-पीने से तंग रहेगा। . ...तुम्हें तो आखिर सब बातें सोच लेनी चाहिए।"

"ठीक है। तब तुम्हारी राय से ही काम करूँगा। बिटिया को यह बात जता देना कि त्रिवेणी को तुमने उसके लिए चुन लिया।" कहकर दीनानाथ बाबू ने एक लम्बी सांस खींची।

कल्याणी कुछ कहने ही जा रही थी कि मिसरानी के चीखने चिल्लाने की आवाज सुनकर बोली—अरे क्या तुम लोगों ने शोर मचा रक्खा है। मिसराइन जी, क्या बात है?

बूढ़ी मिसरानी अपने पिचके गालों पर क्रोध की रेखाएँ खींचकर गालियाँ बकती वहीं आ पहुँची—इस निगोड़े कलमुँहे को तो देखो। जबान तो कैंची के तरह चलती है और काम के नाम से जी चुराता है। पूछो, भला मैंने सड़ी-बुसा तरकारी लाने के लिए दो बात कह दी तो क्या बुरा किया?

कल्याणी ने हँसते हुए पूछा—मिसराइन तुम्हारे दिमाग का पारा एकाएक चढ़ क्यों गया? क्या बात हुई?

"बात क्या नयी होगी—वही जो मुँहलगा दुलारा है इस घर का, वही मेरे जान की आफत बना हुआ है। मैं कहती न थी कि उसके मारे अब मेरा इस घर में ज्यादा दिन रहना न होगा।.....''

बाबू दीनानाथ ने कहा—अरे भाई, अपना यह खटराग बन्द करो, बात क्या हो गई जो तुमने सारा घर सिर पर उठा लिया ?

मिसरानी बोली—बाबूजी, रोज का यही धंधा है। सड़ी-बुसी चीजें जाकर कलुआ बाजार से उठा लाता है। मैं कहती हूँ, भगवान ने आँखें तुझे किस लिए दी हैं ?—और जब पैसे नक़द देते हैं तो ख़राब चीज उठाकर बाजार से क्यों लाये ?—इसी पर वह मुझसे लड़ाई करने पर उतारू हो जाता है। अब इस घर में मेरा निबाह नहीं है।

कल्याणी ने कहा—जाने दो मिसराइन, मैं उसे डाँट दूँगी। लेकिन तुम बद्रीनारायण कब जानेवाली हो ?

कब जाऊँ मालकिन ? तुम्हारा ही तो सहारा है। इस बार चली जाती तो पार लग जाती। फिर ऐसा मौक़ा न मिलेगा। मिसरानी की आँखें आशा से प्रदीप्त हो उठीं।

"तो जाओ न, बात क्या है ?"

"कुछ खर्चे-वर्चे का सहारा हो जाता मालकिन ! मैंने तुम्हीं लोगों का जूठन खाकर जिन्दगी बसर की है। मेरे आगे-पीछे और कौन है ?" मिसरानी ने दाँत दिखाते हुए खुशामद और आजिज़ी के स्वर में कहा।

"तो अपने मालिक से कहो यह बात।" कल्याणी ने बढ़ावा दिया।

'मैं तुमको-उनको कुछ अलग थोड़े ही जानती हूँ। मालकिन बड़ा पुण्य होगा। हमारा भी उद्धार हो जायगा।

कल्याणी के मन में स्वयं धर्म की भावना ज़ोर मारा करती थी, सिर्फ़ दीनानाथ बाबू ही इसे फ़िजूल और ढोंग समझते थे। कल्याणी ने दीनानाथ बाबू से कहा—अजी, इसे कुछ दे क्यों नहीं देते, आख़िरी उम्र में कुछ पुण्य भी कमा ले बेचारी।

दीनानाथ बाबू ने दिल्लगी के स्वर में कहा—तुम्हीं क्यों नहीं दे देतीं अपने पल्ले से? पुण्य में तुम्हे भी हिस्सा मिल जायगा।

'अच्छी बात है। कहते हो तो मैं हा दे दूँगी, लेकिन याद रखना।" यह कहकर कल्याणी ने मिसरानी से कहा—मिसराइन जब जाने लगोगी तब जो होगा मैं तुम्हें ख़ुद ही दे दूँगी।

मिसरानी हर्ष से गद्‌गद् होकर बाहर चली गई। जाते-जाते कह गई—मालकिन, ज़रा कलुआ को डाँट देना!

लेकिन बाहर निकलते ही कलुआ फिर सामने पड़ गया।

उसने कहा—"मिसराइन कौड़ी-कौड़ी जोड़कर तुमने जो रुपया इकट्ठा किया है, वह किस दिन काम आवेगा ? खर्चे के लिए तो मालकिन की ख़ुशामद करनी हो !"

मिसरानी फिर गरजने लगीं। अन्दर से कल्याणी ने कहा—अब मिसराइन के बद्रीनारायण जाने में ही हमारा कल्याण है।

[२२]

कौशल्या कमरे में घुसते ही दौड़कर संध्या के गले जा लगी। संध्या सोफ़े पर लेटी कोई पुस्तक पढ़ रही थी। अचानक कौशल्या को देखकर चौंक उठी—"अरी कुशी तू ही है ?"

मुरझाई हुई संध्या, कौशल्या को देखकर खिल उठी। कौशल्या ने हँसते हुए कहा—"पहिचानो ! देखूँ तुम्हारी स्मरण-शक्ति कितनी तेज़ है !!"

फिर दोनों गले लगकर देर तक हँसती रहीं। संध्या ने कहा—"कुशी, तू कब आई ?"

"आज ही तो सबेरे उतरी हूँ।"

"मुझे तो तूने भुला दिया है। आनेतक की ख़बर न दी।"

"मुझे ख़ुद ही कहाँ ख़बर थी जीजी ? अचानक हो चली आई। लेकिन रास्ते भर यही सोचती रही कि पंख लग जाते तो एक दम उड़कर तुम्हारी इसी खिड़की पर आ बैठती। क्यों जीजी मैं चिड़िया हो जाऊँ तो तुम मुझे प्यार करो ?"

"पागल, तू चिड़िया कैसे बन जायगी ?"

"ऐसे ही—इच्छाशक्ति के चमत्कार से। जीजी, अभी कई दिन हुए 'इच्छाशक्ति के चमत्कार' नाम की एक पुस्तक मैंने पढ़ी थी। उसमें लिखा था कि तीव्र और दृढ़ इच्छा से मनुष्य सब कुछ हो सकता है। मुझे तो बचपन से चिड़िया बनने की धुन है; लेकिन डरती हूं कि तुम कहीं मुझसे नफ़रत न करने लगो। तुम्हारा डर न हो जीजी, तो एक बार मैं कोशिश करके देखूं ज़रूर।

कौशल्या खिल-खिल करके स्वच्छ-निर्द्वन्द हँसी। संध्या ने भी उसका साथ दिया।

कौशल्या बहुत दिनों पर घर आई है। वह संध्या की बाल्य-सखी है अब आठवें दर्जे तक स्कूल में साथ ही पढ़ी भी है। उम्र में कुछ छोटी है, इसलिए संध्या को जीजी कहती और बड़ी बहन की तरह मानती है। संध्या भी उसे सहोदरा की तरह प्यार करती है।

दुनियाँ में कुछ लोग ऐसे विलक्षण रूप-गुण-संपन्न होते हैं कि उनकी विलक्षणता की ओर ध्यान न देना सम्भव नहीं होता। कौशल्या ऐसों ही में एक थी। उसका खिला हुआ, उज्ज्वल, कांतिमान मुखमण्डल, उसकी दो अपरूप लावण्यमयी, मदिरा भरी, चंचल चपल, आयत आँखों के कारण एक अपूर्व गौरव,

अद्भुत आकर्षण और अनिर्वचनीय कांति से उद्भासित होता रहता था। सुन्दरी तो वह थी, लेकिन उसका सौंदर्य ऐसा था कि एक बार उसे देख लेने पर फिर जीवन भर उसकी स्मृति को भुलाना संभव ही न था। जैसी वह रूपवती थी, वैसी ही प्रफुल्ल भी। आनन्दोल्लास की दीप्ति हर घड़ी उसके कांतिमान चेहरे पर खेला करती थी। जीवन में सब प्रकार से वह संतुष्ट थी, प्रसन्न. तृप्त। कौशल्या के मुँह पर जैसा उल्लास नृत्य करता था, संध्या का मुखमण्डल उसी तरह करुणा की आभा से दीप्त रहता था। संध्या और कौशल्या जब साथ बैठतीं, तो ऐसा जान पड़ता था मानों साक्षात् करुणा और उल्लास साथ-साथ बैठे हैं।

वही कौशल्या आज बहुत दिनों पर ससुराल से घर आई है; संध्या इस अपनी प्राणप्यारी सखी को पाकर आज सच-मुच उल्लसित हो उठी है। उसके मन-प्राण में एक स्फूर्ति, एक गुदगुदी जाग उठी है जैसे बहुत दिनों की बीमारी से उठ मनुष्य के मन में स्वास्थ्य स्फुटित हो उठता है!

संध्या ने कौशल्या को गोद में भरकर कहा—कुशी, तू सुखी तो रही न?

"जीजी, मैं बिना सुखी रहे रह सकती हूँ? कभी उदास देखा है तुमने मुझे! तुम अलबत्ता मुहर्रमी शकल बनाये रहती हो।" कहकर कौशल्या हँसी।

"जीजा जी तो अच्छी तरह हैं ?"

"मुझे पाकर भी जो अच्छी तरह न रहे....."

"रहने दे, अपने मुँहसे इतना बड़ाई अच्छी नहीं लगती।"

"न सही, मैं कुछ न कहूँगी। तुम्हीं कहो, क्या हाल-चाल है ?"

"हाल-चाल क्या होता है ? जिन्दगी के दिन बीते जा रहे हैं ! संध्या ने उदासीन स्वर में कहा।

"जीजी, अभी तुम्हारी शादी-वादी नहीं ठीक हुई ? लड़कियों का क्वांरा रहना भी कोई जीवन है !"

"क्या जाने कुशो, जीवन है कि नहीं है ! मैं तो कभी कभी सोचता हूँ कि लड़कियों का जीवन भी जीवन ही है यह मैं तो अभी तक कुछ नहीं समझी। तू कुछ समझी है कौशल्या ?"

"सब कुछ समझ चुकी हूँ जीजी, अब समझने को कुछ बाक़ी नहीं है।

"ऐसा ?"

"और क्या ! तुमने पढ़ने लिखने में चाहे जितनी उन्नति कर ली हो जीजी, लेकिन स्त्री की जो मर्यादा है, उसमें मैंने तुम्हें बहुत पीछे छोड़ दिया है।"

"अर्थात् ?"

"अर्थात् यह कि तुम अभी क्वांरी की क्वांरी हो और मैं गृहिणी बनकर अब माँ होने जा रही हूँ। कौशल्या के गोरे-गोरे गालों पर लज्जा की ईषत् लालिमा स्फुटित हो उठी।

"सच ?" संध्या ने प्रसन्नता-भरा कौतूहल प्रदर्शित करते हुए कहा, लेकिन इस बात ने उसके हृदय में एक हलका-सा दर्द पैदा कर दिया। वह अपने आप पर झुँझलाई और इस भाव को हृदय से निकाल देने का उसने प्रयत्न किया।

"कुशी, इसी लिए तू दुबली हो गई है और पीली भी पड़ गई है। अच्छा, यह तो बता, तू माँ होने जा रही है, इसके लिए क्या तेरे मन में बड़ी खुशी है ?" संध्या ने अपने हृदय के भार को जबरदस्ती उतारकर प्यार भरे स्वर से पूछा।

कौशल्या ने कहा--जीजी, माँ होऊँगी, यह भाव मन में खुशी पैदा करता है या नहीं, सो मैं तुम्हें ठीक-ठीक नहीं बतला सकती। अगर बतलाना चाहूँ तो एक शब्द में केवल यह कह सकती हूँ कि जब यह बात सोचती हूँ तो जैसे पागल-सी हो जाती हूँ। वह पागल-पन का अनुभूत आनंद को होता है। उल्लास को या और न जाने कितने भावों के मिश्रण को, यह बताना असंभव है। शायद यह बताने की नहीं, अनुभव ही करने की वस्तु हो।

संध्या चुपचाप सुनती रही। उसका मुँह गंभीर हो गया।

चेष्टा कर के भी वह अपने मुँह पर प्रसन्नता का भाव नहीं प्रकट कर सकी। कौशल्या ने यह देखा और संध्या के मनकी वेदना का अनुभव भी किया। उसने आदर जताते हुए संध्या से पूछा—जीजी, तुम्हारा पढ़ना-लिखना कब खतम होगा ?

"कह नहीं सकती। शायद जीवन-भर चलता ही रहे।" संध्या ने अन्यमनस्क भाव से उत्तर दिया और अपने मन में उठे हुए अनेक प्रकार के भावों के द्वन्द्व को छिपाने के अभिप्राय से वह खिड़की के बाहर देखने लगी।

कौशल्या ने कहा—जीजी, तुम इस तरह अनमने जी से मेरी बात का जवाब क्यों देती हो ? मैं यह पूछती हूँ कि चाचाजी तुम्हारे ब्याह-शादी की कुछ बातचीत नहीं कर रहे ?"

संध्या ने कहा—कुशी, तू नाराज न हो तो एक बात कहूँ।

कौशल्या ने कहा—नाराज क्यों होऊँगी जीजी ? कहो न !

संध्या बोली—तो अब तू घर जा, मैं थोड़ी देर अकेली रहना चाहती हूँ। कल दोपहर को आना, तब इस बारे में हम लोगों की बातें होंगी॥

कौशल्या के जाते ही, दरवाजा बंद करके, संध्या फूट-फूट कर रोने लगी। जैसे बहुत दिनों की रुकी हुई रुलाई एक असहनीय-व्यथा का भार लेकर आज आँसुओं के सहारे बही जा रही हो। रोकर चित्त कुछ हलका हुआ। तब भी संध्या के अंत-

कार में वह अपने कमरे में लेटी-लेटी न जाने कितनी बातें सोचती रही।

आज वह सब कुछ भूल गयी है--याद आती है उसे सिर्फ यही एक बात कि कौशल्या आज माता होने जा रहा है। संध्या कौशल्या के साथ बचपन से खेला है, दोनों में सगी बहनों का-सा प्रेम है, वह माँ होने जा रही है यह संध्या के लिए प्रसन्नता की बात नहीं है? लेकिन संध्या के मन में एक दर्द-सा पैदा होता है, एक टीस-सी उठती है--माँ के हृदय का उल्लास वह कैसे समझे? आज अचानक ही कौशल्या ने संध्या के हृदय में जो भूख जगा दी है, वह न जाने कब शान्त होगी, मैं गृहिणी बनकर अब माँ बनने जा रही हूँ। कौशल्या का यही एक वाक्य संगीत की प्रतिध्वनि की तरह उसके कानों में गूँज रहा है। हाय, मैं न हुई गृहिणी, न हुई माता·····जीवन के दिन बीतते जा रहे हैं, व्यर्थ, नीरस।

संध्या के मन में जितनी कल्पनाएँ उठ रही हैं, उन्हें क्या कलम की नोक से बाँधकर रक्खा जा सकता है? बढ़ी हुई, उमंग-भरी सरिता के वेगवान् प्रवाह की तरह उसकी कल्पनाएँ दौड़ रही हैं, हाहाकार करता हुई; किन्तु निष्फल व्यथता से भरी। एक दुनिया बनाकर जब वह तैयार करती है तो उसे

मालूम होता है कि यह स्वप्न है। हाय, स्वप्न इतने प्यारे होते हैं, लेकिन झूठे क्यों ?

जैसे सरिता का उद्दाम-उन्मत्त प्रवाह सब कुछ भूलकर झंझा की तरह प्रवाहित होता है, उसी तरह संध्या के विचारों का प्रवाह भी सब कुछ भूलकर प्रवाहित हो रहा है। इस समय वह भूल गई है भुवन को, भुवन के प्रति अपने स्नेह को और उसके जेल-जीवन की यातनाओं को। उसे याद है केवल मन की जाग उठी यह भावना और उसके सम्मुख है त्रिवेणी। संध्या आज सोचकर भी समझ नहीं पाती कि त्रिवेणी के प्रति उसके मन में इतना विराग, इतनी उपेक्षा क्यों रहती आयी है। आज त्रिवेणी ही जैसे उसका सर्वस्व हो रहा है। संध्या उन्मत्त होकर आप ही आप कह रही है—प्यारे, तुम आओ, मैं तुम्हें प्यार करूँगी, तुम्हें अपने गले का हार बनाऊँगी।

[२३]

दूसरे दिन कौशल्या से संध्या ने कहा—कुशी, मेरी शादी की बातचीत क़रीब-क़रीब तै हो गई है।

"कहाँ ? किससे ?" उल्लास से कौशल्या ने पूछा।

"यहीं होस्टल में रहते हैं, एम० ए० के विद्यार्थी हैं। और मैं ज्यादा नहीं जानती।"

"देखने-सुनने में कैसे हैं ?"

"खूब है, गोरे-चिट्टे, गठीले बदन के, वायलिन खूब अच्छा बजाते हैं। गाते भी, सुना है, बहुत अच्छा हैं।"

"हाँ ! शादी कब होगी ?"

"यह अभी कुछ तै नहीं हुआ है, शायद अगली गर्मियों में हो जाय।"

"तब तो बड़ा अच्छा है जीजी, मैं भी यहीं रहूंगी..... कभी यहाँ आते भी हैं ?"

"अक्सर आते हैं। इधर कई रोज से नहीं आये।"

"अब आवें तो मुझे दिखाना।

"क्यों ? एक से तेरा जी भर गया क्या ?"

"हाँ जीजी, तुम अपने 'उनसे' बदलने को तैयार हो ?"

"छिश, मेरे वो कौन हैं ? अभी तो शादी भी नहीं हुई..... '

"न सही, पहले ही बदल लो। शादीशुदा तुम ले लो, तुम्हारी जगह मैं ही उनसे शादी कर लूँगी।" कहकर कौशल्या हँसी, संध्या भी अपनी हँसी न रोक सकी।

आज दिन-भर संध्या के मन में बड़ा उल्लास रहा। सारे दिन वह चिड़ियों की तरह घर में फुदकती रही। कब शाम

हो और त्रिवेणी आवे, इसी प्रतीक्षा में वह विकल हो उठी थी। आज प्रतीक्षा की विकलता का अनुभव उसे पहली बार हुआ।

तीसरे पहर कौशल्या फिर आ गई। संध्या उसे किसी तरह टालना चाहती थी। उसके सामने कैसे वह त्रिवेणी से बातें कर सकेगी? आज उसके मन में बरबस लज्जा और संकोच का भाव उमड़ा आ रहा है, जैसे वह नववधू हो! पर कौशल्या से कैसे कहे कि चली जाओ। फिर, त्रिवेणी इधर कई रोज से नहीं आया। क्या ठीक कि आज आवे ही? लेकिन, इस बात का खयाल आते ही संध्या मुरझा-सी जाती है। कौशल्या उसके मुँह पर आने-जानेवाले भावों को लक्ष्य कर रही और समझ रही है। थोड़ी देर इधर-उधर की बातें करके उसने कहा—जीजी, अब मैं चलती हूँ। कल फिर आऊँगी।

संध्या ने कुछ कहना चाहा, पर वह अनमनी-सी हो रही थी; कौशल्या उठकर चल दी।

बरामदा और आँगन पार करके कौशल्या सीढ़ियाँ उतरने जा रही थी कि त्रिवेणी से उसका मुठभेड़ हो गयी। दोनों की चार आँखें हुईं। त्रिवेणी झिझका। कौशल्या झटपट भीतर चली गयी। जब त्रिवेणी संध्या के कमरे की ओर बढ़ा तो

कौशल्या नीचे उतर गई। उसे यह समझने को बाक़ी न रहा कि ये ही संध्या के भावी पति हैं।

त्रिवेणी को अपनी ओर आते देखकर, आज पहली बार, संध्या के सिर से पैर तक सिहरन खेल गई। उसके मन में एक गुदगुदी-सी पैदा हुई। उसने त्रिवेणी की ओर एकबार देखकर आँखें नीची कर लीं। उसे समझ न पड़ा कि उसे क्या करना चाहिए। वह असमंजस में पड़ी, आँखें नीची किये, चुपचाप जहाँ की तहाँ बैठी ही रही।

कमरे में पैर रखते ही त्रिवेणी ने पूछा—आज आपकी तबीयत कैसी है?

सिर झुकाये ही संध्या ने छोटा-सा जवाब दिया—अच्छी।

त्रिवेणी ने और पास आकर पूछा—मैं बैठ सकता हूँ?

"बैठिए।.....इधर कहीं बाहर चले गये थे क्या!"

"नहीं तो!"

"फिर आये क्यों नहीं?"

"आप ही ने तो मना कर दिया था।"

"मैंने? मना कर दिया था?"

"हाँ—हाँ, आपको याद नहीं?.....मैं तो आज भी न आता। माताजी ने किसी काम से बुला भेजा था, इसीलिए.....।

"अम्मा से मिल आये ?"

"नहीं, वह तो घर में हैं ही नहीं। कहाँ हैं यही पूछने के लिए मैं आपके पास आ गया था।"

"यही पूछने के लिए ?....." आँखें नचाकर, अभिमान भरे स्वर में श्लेष के साथ संध्या ने कहा।

त्रिवेणी ने चौंककर संध्या की ओर देखा—यह अभिमान-भरा उलाहने का स्वर तो उसने संध्या के मुँह से आज पहली बार सुन पाया है ! सहसा यह परिवर्तन कैसा ?

त्रिवेणी ने कुछ उत्तर नहीं दिया, वह संध्या के मुँह की ओर एकटक देखने लगा। संध्या आज अपना सर्वस्व समर्पण कर देने को उद्यत हो रही है, उसका हृदय बार-बार कह रहा है—अब विलम्ब क्यों ? यह जो सुयोग मिला है, इसका उपयोग क्यों नहीं करती ? नादान लड़की, जिससे तेरा नारी-जीवन साथक हो उसी अपने आराध्य को अपना सर्वस्व समर्पण क्यों नहीं कर देती ? इसी से संध्या का हृदय काँप-सा रहा है और उसे बार-बार रोमांच हो आता है। मन में जो एक गुदगुदी-सी पैदा हो रही है, वह उसे अस्थिर बनाये हुए है।

त्रिवेणी ने सब देखा और समझा। वह संध्या के और

निकट चला आया। उसने कहा —आज आपकी तबीयत सिनेमा चलने लायक़ है या नहीं ?

सन्ध्या की मद-भरी आँखें त्रिवेणी की ओर फिरीं —"आप मुझे 'आप' क्यों कहते हैं ?" स्वर में कम्पन है और चेहरे पर अन्धकार, जैसे कोई अपराध कर रही हो।

त्रिवेणी ने कहा —फिर क्या कहूं ?

सन्ध्या बड़ी मुश्किल से कह पाई—जैसे सब लोग कहते हैं.....अचानक उसका एक हाथ त्रिवेणी के हाथ से छू गया। त्रिवेणी ने आवेग भरे हृदय से अपने हाथों में उसका हाथ लेकर चूम लिया। सन्ध्या बेसुध-सी हो गयी। उसका मस्तक त्रिवेणी के कन्धे पर ढुलक पड़ा। वह बेहोश-सी थी, थर-थर काँप रही थी। त्रिवेणी ने उसे सँभाला।

[८]

उस रात त्रिवेणी को नींद न आयी। वह समझ ही न सका कि यह सहसा क्या हो गया। सन्ध्या को पाने के लिए उसने कितना प्रयत्न किया था, लेकिन सन्ध्या जब आज उसके इतने निकट है तो कौशल्या की रूप-ज्योति ने उसकी आंखों में चकाचौंध पैदा कर दी है। सन्ध्या उसके सामने कितनी तुच्छ है, कैसी नगण्य ! लेकिन वह रूप की रानी, वह स्वर्ग की अप्सरा है कौन ? कैसे त्रिवेणी उसे अपना सकता है ?

त्रिवेणी ने बहुत सोचा, लेकिन वह कुछ समझ न सका। सन्ध्या ही एकमात्र उपाय है। सन्ध्या को अपनाये बिना उसे किसी तरह पाया नहीं जा सकता। तब यहीं से श्रीगणेश हो—त्रिवेणी पैशाचिक हँसी हँसकर प्रसन्न हुआ।

दूसरे दिन त्रिवेणी बड़े ठाट-बाट से सन्ध्या के घर की ओर रवाना हुआ। आज सन्ध्या ने उसके साथ सिनेमा जाने का वचन दिया है।

लेकिन सन्ध्या ने कहा—मैं अकेली न जाऊँगी। मेरी एक सखी भी मेरे साथ जायगी।

त्रिवेणी चौंक उठा—सौभाग्य तब क्या इतने निकट है? लेकिन प्रकट में उसने इस पर प्रसन्नता नहीं दिखायी। बोला—यह सखी अब कौन फट पड़ी?

"कोई हो, मैं उसे ले जरूर आऊँगी।"

"जब कहती हो तो ले ही जाओगी, लेकिन वह है कहाँ?"

"अभी बुलवाती हूँ" कहकर सन्ध्या ने कलुआको कौशल्या के घर भेज दिया।

❀ ❀ ❀

दीनानाथ बाबू अब थोड़े निश्चिन्त हुए हैं। त्रिवेणी के साथ सन्ध्या का इस तरह मिलना-जुलना देखकर अब उनका यह सन्देह जाता रहा कि सन्ध्या त्रिवेणी को पसन्द नहीं करती।

विवाह की बात एक तरह से तय हो गयी है। दीनानाथ बाबू ने स्वयं ही त्रिवेणी से यह प्रस्ताव किया था और उसने थोड़े बनावटी संकोच के साथ उसे स्वीकार भी कर लिया है। त्रिवेणी के घर-परिवार में और कोई है नहीं, वह स्वयं ही अपना स्वामी है। एक दिन विधिवत् विवाह की तिथि निश्चित हो गई। त्रिवेणी ने दीनानाथ बाबू के यहाँ आना-जाना कम कर दिया। सन्ध्या भी अब त्रिवेणी को देखकर शर्माने लगी है। दिन ऐसे बीतते जा रहे हैं, जैसे सपना हों। सभी अपना-अपना स्वप्न लेकर दुनियाँ को भूले हुए हैं। भुवन की याद किसको है?

[२५]

आज संध्या की शादी है। घर में चारों ओर चहल-पहल मची हुई है। मंडप में स्त्रियाँ मंगल गान कर रही हैं। बरातियों के साथ त्रिवेणी जनवासे में आ चुका है। द्वारपूजा की रस्म अदा हो चुकी है, रात को शादी होगी। प्रसन्नता और उल्लास से भरी स्त्रियाँ रंग-बिरंगे कपड़े पहने घर में इधर-उधर डोल रही हैं; किन्तु इस उल्लास की लहर में संध्या कहाँ सो गई है? चलकर उसे ढूँढ़ें।

बंद दरवाजों के अंदर अपने कमरे में संध्या अकेली है। हल्का अँधेरा फैलने लगा है। संध्या के हाथों में एक दैनिक पत्र है और आँखों में आँसू। अखबार को वह बार-बार पढ़ती

है, पर आँखों की अजस्र वारिधारा का प्रवाह बीच में अन्तराय बनकर विघ्न उपस्थित करता है। संध्या के हृदय में एक आग-सी जल रही है, पर वह इतनी विवश है कि मुँह से आह तक नहीं कर सकती।

सहसा किसी ने दरवाजे पर कराघात किया। संध्या ने अखबार दूर फेंक दिया, आँचल से आँसू पोंछे और आकर दरवाजा खोल दिया। देखा, कौशल्या थी। संध्या को अँधेरे कमरे में अकेली रोते हुए देखकर कौशल्या आश्चर्य से अवाक् हो गई। उसने कहा—जीजी, तुम अकेली बैठी यहाँ रो रही हो। बात क्या है?

पर संध्या कुछ न बोली। सहानुभूति पाकर, कौशल्या की गोद में मुँह छिपाकर वह फूट-फूटकर रोने लगी। कौशल्या की आँखों से भी आँसू बह चले। उसने कहा—जीजी, तुम्हें मेरा सौगन्ध है जो राभा। इस खुशी के वक्त तुमको क्या हो गया कि तुम इस तरह रो रही हो?

रोकर संध्या का जी कुछ हलका हो गया था। उसने कमरे का दरवाजा फिर अन्दर से बन्द कर लिया। बोला—कुशी, यह ब्याह नहीं, मेरे पापों का प्रायश्चित्त है। हाय! मुझे क्या हो गया था?

कौशल्या ने कहा—जीजी, तुम्हारी यह पहेली मेरी समझ में कुछ नहीं आती। साफ़-साफ़ कहो, क्या बात है ?

तब संध्या ने अखबार उठाकर कौशल्या के हाथ में दे दिया और एक जगह उँगली रखकर बोली—इसे पढ़ो।

लेकिन कौशल्या पढ़कर भी कुछ न समझ सकी। वह एक षडयंत्र के मुक़दमे का फ़ैसला था, जिसमें भुवन नामक व्यक्ति को षडयंत्रकारियों का नेता समझकर तथा उसपर एक डकैती और हत्या के अभियोग का जुर्म साबित करके अदालत ने आजन्म द्वीपान्तर की सज़ा उसे दी थी। उस मुक़दमे की कार्रवाई से संध्या के रोने का क्या संबंध हो सकता है, यह कौशल्या किसी तरह न समझ सकी। उसने कहा—जीजी यह क्या है।

"कुशी. वही मेरे सर्वस्व हैं। एक दिन मैं उन्हीं की होने जा रही थी.. ....."

"बीती बातों को भूल जाओ जीजी, तुम अब कुछ घन्टों में दूसरे किसी की पत्नी होओगी। हिन्दू नारी को अपने पति के अतिरिक्त दूसरे का चिन्तन करना भी पाप है।"

इसीलिए तो मेरा हृदय फटा जा रहा है कुशी। जिन्हें एक बार पति कहकर मन में वरण कर लिया था, उन्हें भुलाकर

कैसे मैं इस माया में पड़ गई ? हाय, मेरी बुद्धि को क्या हो गया था ?"

"जीजी, तुम पढ़ी-लिखी हो, इस तरह अनजान न बनो। औरत को अपना जी फ़ौलाद का बनाना चाहिए। जो बीत गया उसे सपने की तरह भुला दो; जो आगे है, उसे सँभालो।"

"कुशी, मैं उन्हें बहुत प्यार करती थी। हाय, वे मेरे लिए प्राण देते थे। मैंने हीरा खोकर कांच के टुकड़े पर अपना ईमान खो दिया।"

"जीजी, प्रेम बहुत ऊँची चीज है। अगर तुम उन्हें प्यार करती थीं, तो क्या हर्ज है ? जीवन-भर उन्हें इसी तरह प्यार करती रहो। प्रेम का मतलब उत्सर्ग है, सर्वस्व-समर्पण। प्रेम मनुष्य को बल देता है, कमज़ोर नहीं बनाता। अपने हृदय को दृढ़ करो, खुशी-खुशी ब्याह का कार्य सम्पन्न करो, फिर पति के साथ अपने कर्तव्य का पालन करते हुए, जीवन-भर अपने आराध्य को प्यार करती रहो। उठो।"

"कुशी, तेरी ज्ञान की बातें मेरे जी में नहीं बैठतीं। मैं यह शादी न करूंगी।"

"जीजी, तुम पागल हो गई हो ? यह भी कहीं हो सकता स्त्री की मर्यादा और माता-पिता के सम्मान की रक्षा इसी में है कि तुम चुपचाप विवाह कर लो। तुम्हारे हृदय में ज्वाला-

मुखी सुलगती हो, तब भी ओठों से फूल झरते रहें। जीवन को तपस्यामय बनाने से डरती क्यों हो जीजी? उठो, मैं इस तरह तुम्हें रोने न दूँगी।'

"कुशी, तू मेरे हृदय की वेदना नहीं समझती।....."

"खूब समझती हूँ जीजी, पर न समझती तभी अच्छा था। वेदना तो प्राणों के तह में छिपाकर रखने की चीज है। किसी प्रिय की वेदना-भरी स्मृति में दो आँसू गिरा देने में जो सुख है जीजी, कभी तुम उसे समझ सकोगी।"

तरह-तरह से समझा-बुझाकर कौशल्या सन्ध्या को कपड़े पहनाने ले गई। उठते समय उसकी आँखों ने भी आँसुओं से सन्ध्या का अभिषेक किया।

[२]

बाढ़ का पानी जैसे आता है, वैसे ही उतर जाता है। कब, किस तरह, अचानक नदी के दोनों किनारों को डुबाता प्रलयंकर-रूप धारण किये, बाढ़ का पानी उमड़ आयेगा, यह कोई जान नहीं पाता; इसी तरह उसके उतार को भी कोई लक्ष्य नहीं कर पाता। मन के तीव्र भाव-प्रवाहों का भी यही हाल है। वह आकुल आकांक्षा, जिसे लेकर कुछ क्षण पहले हम पागल से हुए रहते हैं, थोड़ी देर बाद भार लगने लगती है। संध्या दो दिन पहले एक सुख के संसार की कल्पना करके

आत्म-विभोर हो रही थी, पागल। उसी पागलपन में जो ही उसके सामने आया, उसी को उसने आत्म-समर्पण कर दिया, लेकिन वह क्या सुखी हो सकी ? नहीं, वह अब प्रतिक्षण पहले से भी अधिक तीक्ष्ण अथच असह्य ज्वाला में जल रही है। त्रिवेणी के प्रति अब उसके मन में पहले की अपेक्षा भी अधिक उदासीनता और विरक्ति का भाव भर उठा है, किन्तु त्रिवेणी अब उसका पति है, पूजनीय हिन्दू नारी के लिए पति ही उसका सर्वस्व है, इह और परलोक का विधाता है। संध्या इस बंधन का स्मरण करती है तो काँप उठती है और उसके मन में विद्रोह भर आता है। इस अन्याय-बंधन से छूटने का क्या कोई उपाय नहीं है ! वह चारों ओर देखती है तो उसे अंधकार दीखता है—संसार में समाज है, मर्यादा है, लोकलज्जा है और है अपवाद। इन सबको देखकर ही दुनियाँ में चलना पड़ता है। समाज की शृंखला और मर्यादा का विधान इसी-लिए बनाया गया है कि उससे व्यक्तियों का समूह नियंत्रित हो, सुखी हो, किन्तु अनेक बार वह नियंत्रण व्यक्ति के जीवन के लिए अनुकूल नहीं होता। तो क्या इसीलिए व्यक्ति उन नियंत्रणों की शृंखला तोड़ दे, व्यक्ति के सुख के लिए समाज की मर्यादा भंग कर दे। संध्या यह सब सोचती है तो उसे किनारा नहीं मिलता। मन का यह उद्वेग सह्य नहीं होता,

लेकिन सहसा ऐसा कुछ करने का उपाय भी नहीं दीखता जिसे वह स्वयं ही अनुचित और विवेक-रहित समझती है।

माँ अपनी बेटी का यह भाव लक्ष्य करती है और अंदर ही अंदर बिना पानी की मछली-सी तड़पती है। माँ-बाप के बीच में यही एक अकेली संध्या है—माँ बाप ने क्या उसे सुखी बनाने के लिए कुछ उठा रखना चाहा था ?··· लेकिन, वे किसी तरह उसे सुखी नहीं बना सके। भाग्य इतनी ज़बर्दस्त चीज़ है कि अपनी पूजा बलात् करा लेता है। माँ सोचती है, बेटी की क़िस्मत में सुखी होना लिखा ही नहीं था, नहीं तो भुवन क्यों जेल जाता, त्रिवेणी में क्यों घनिष्टता बढ़ती और यह ब्याह ही भला क्यों होता। लेकिन अब इन बातों के सोचने-विचारने से क्या लाभ है ? अब हो ही क्या सकता है ? हिन्दू समाज ने स्त्रियों को ऐसे कठोर बन्धन में बाँध रक्खा है, जहाँ से उबरने का उनके लिए रास्ता ही नहीं है। इसलिए माँ अब बेटी के पास रहती है और हर घड़ी उसका जी बहलाने के लिए सचेष्ट। अब भी कल्याणी संध्या के पास ही बैठी है। वह कह रही है—सुना बेटी, मिसराइन तो तीर्थ करने गईं सो लौटकर आईं नहीं। लौटते वक्त बीमार होकर रास्ते में ही मर गईं। लेकिन एक काम मरते-मरते भी वह ऐसा कर गईं कि अचरज होता है।

"क्या अम्मा ?" संध्या को जैसे माँ की बात सुनने के लिए बड़ी उत्सुकता है, ऐसा भाव दिखलाकर उसने पूछा।

जब तक मिसराइन यहाँ रहीं, कभी कलुआ से उनकी पटी नहीं, हर घड़ी दोनों की चख-चख लगी रहती थी। कलुआ भी ऐसा शैतान कि हमेशा उन्हें चिढ़ाता और मनगढ़ी-झूठी बातें कहकर मिठाई खाया करता था, लेकिन मरते समय उसी कलुआ को वे अपनी जिन्दगी भर की कमाई सौंप गईं! एक-एक पैसा करके बेचारी ने ढाई सौ रुपये जोड़े थे। सब कलुआ को दे गईं!"

सन्ध्या ने कहा—बड़ी दयावती थी।

कल्याणी बोली—और कलुआ को जी से मानती भी थी: ऐसे चाहे बकती-झकती कितना भी रही हो, पर उनके आगे-पीछे था ही कौन? कलुआ को अपने बेटे की तरह मानती थी बेचारी।

इसी समय कलुआ कमरे में आया। कल्याणी ने पूछा—क्यों रे, बुढ़िया को मार ही डाला न आखिर तूने?

कलुआ ने कहा—'भला हुआ मर गई, कुछ रुपये तो हाथ लगे!" कहकर कलुआ हँसा, पर उसकी आँखों में कृतज्ञता के आँसू भर आये; जैसे वे कह रहे हों—मैं क्या उसे माँ की तरह मानता न था?

कलुआ ने कहा—दीदा तुम्हें पड़ोस में बुलाया है।

"कौशल्या ने ?" सन्ध्या ने पूछा।

"हाँ"

"अच्छा, अभी आती हूँ !" कहकर सन्ध्या कपड़े बदलने लगी।

सन्ध्या जब कौशल्या के कमरे में गयी तो कौशल्या चुपचाप एक कुर्सी पर बैठी हुई थी। उसका सदा प्रसन्न रहनेवाला मुँह उतरा हुआ था और आँसुओं से भीगा ! आँखें लाल हो रही थीं। ऐसा जान पड़ता था, जैसे थोड़ी देर पहले कौशल्या खूब रोई है। सन्ध्या तो उसे देखकर अवाक् हो गई—कुशा, तुझे क्या हो गया है ?

कौशल्या ने बोलने की कोशिश की, पर बार-बार उसका गला भर आया। उसने गला साफ़ करके कहा—जीजी, मैं खुद नहीं आ सकी; लेकिन मैंने तुमसे माँफी माँगने के लिए तुम्हें बुलवाया था।

"माफ़ी ? काहे की माफ़ी ?"

"आज मैं घर जा रही हूँ और मुझसे तुम्हारा एक अपराध हो गया है....."

"कुशी, आज तू कैसी बे-सिर-पैर की बातें कर रही है ? क्या हुआ है तुझे ?

"जीजी, तुम मुझे माफ कर दो।"

"तूने किया क्या है ?"

"मैं तुम्हारे प्रति अपराधिनी हूँ।"

"अब मैं तुझे पीट दूँगी, नहीं तो साफ़-साफ़ बता, क्या बात है ?"

"जीजी, मैंने वह कहने के लिये ही तुम्हें बुलवाया है, पर तुम्हें वचन देना होगा कि तुम मुझे माफ कर दोगी और इस बात को भूल जाओगी।"

"अच्छा, अच्छा, तेरी बात ही रहेगी। कह तो सही।"

"जीजी, इधर कई रोज से जीजाजी हमेशा मुझे घूरा करते थे, पर यह उनकी आदत समझकर मैं कुछ ध्यान न देती थी। आज सवेरे मैं तुम्हारे पास आ रही थी तो नीचेवाले कमरे में जीजा जी से मुलाक़ात हो गई। वे दरवाजा रोककर खड़े हो गये और मैं अन्दर ही घिर गई। उन्होंने मुझसे बहुत सी बातें कहीं, जो मैं तुमसे नहीं कहना चाहती, पर अन्त में उन्होंने मेरा हाथ पकड़ लिया। कहा कि तुम्हारे ही लिए मैंने सन्ध्या से शादी की है! उनके इस व्यवहार से मुझे बड़ा क्रोध आ गया जीजी, और मैं उन्हें ढकेलकर घर चली आया। पहले तो क्रोध से मैं इतनी अधीर हो गई थी कि यही जी चाहता था, उनका खून पी जाऊं; पर बाद में मुझे मालूम हुआ

कि यह तुम्हारे प्रति मेरा अपराध था। क्रोध मनुष्य को पशु बना देता है। मुझे अपने क्रोध के लिए पछतावा है। मनुष्य के मन में कितनी ही इच्छाएँ होती हैं; अस्तु उसके कारण मुझे इतना अधीर न होना चाहिए था। खैर, जीजी, तुम मुझे माफ कर दोगी न ?"

सन्ध्या ने कहा—कर दूँगी।

कौशल्या बोली—हृदय से ?

सन्ध्या ने कहा—हाँ, हृदय से।

कौशल्या बोली—और तुम्हें उनको भी माफ कर देना होगा जीजा। एक दिन वे अपनी गलती समझेंगे। माफ कर दोगी न ?

सन्ध्या ने कहा—हाँ, कर दूँगी।

कौशल्या बोली—जीजी, इस घटना को तुम्हें भुला भी देना होगा। नहीं तो मैं समझूँगी, तुमने मुझे माफ नहीं किया। बोलो, भूल सकोगी जीजी ?

सन्ध्या ने कहा अच्छा, भूल जाऊँगी।

सन्ध्या के मुँह पर एक दृढ़ गंभीर भाव प्रतिफलित हो उठा था कि कौशल्या को उसकी ओर देखने का साहस न हुआ।

× × ×

घर आकर सन्ध्या ने शांत-संयत चित्त से एक पत्र लिखा। वह अपना कर्तव्य निश्चित कर चुकी थी। पत्र त्रिवेणी के नाम था—

पतिदेव,

विवाह के क्षणभर पहले ही यह बात निश्चित-सी हो गया थी कि हमारा विवाह अनुचित है; पर तब विवाह होना अनिवार्य था, इसलिए वह हुआ। क्षणिक उत्तेजना के वश मैंने जो ग़लती की थी, जीवन-भर उसका प्रतिफल मुझे भोगना था और उसके लिए तैयार होने के सिवा गति न थी। मैं तैयार भी थी; पर आज भगवान ने मुझे ऐसा सुयोग दिया है कि मेरी वह तैयारी विवाह की न होकर आनन्द की हो कौशल्या के प्रति आपके व्यवहार की बात मुझे विदित हो गई है और यह एक ऐसा अक्षम्य अपराध है, जिसके लिए आपका संपर्क त्याग करना ही मैं उचित समझती हूँ। प्रसन्नता की बात है कि आपने यह स्वीकार कर लिया है कि आपने मेरे लिए मुझसे विवाह नहीं किया, अतः मैं भी वैवाहिक दायित्व से अपने को मुक्त समझती हूँ। हम दोनों ने जो एक ग़लती कर ली थी, उसे हम दोनों ही सुधारने का अब मौक़ा पा सकेंगे, यह दोनों के लिए ही प्रसन्नता की बात होनी चाहिए। आप तो दूसरा विवाह करके सुखी हो सकेंगे, पर मेरे लिए यह रास्ता बन्द है,

बन्द यों भी है कि एक युग मे जिस देवता की मैं आराधना करती आयी हूँ, वह आज निर्वासित है, देश के लिए तपस्या कर रहा है। मैं भी उसी के पद-चिन्हों का अनुसरण करने की चेष्टा करूँगी और शेष जीवन इसी उद्योग में लगाऊँगी कि मेरी तरह अन्य बहनों का जीवन इस तरह की भूल-भुलैया में पड़कर बहक न जाय।

आपको मैं यह सूचित कर देना चाहती हूँ कि कौशल्या के अनुरोध से मैंने हृदयसे आपको क्षमा कर दिया है।

— सन्ध्या

[२७]

चार वर्ष बाद।

यमुना के उस पार एक सुन्दर तपोवन के द्वारपर एक ताँगा आ खड़ा हुआ। हरी-हरी फूली वल्लरियों के वितान से द्वार पर तोरण बना हुआ था और उसके नीचे एक बोर्ड पर ख़ूबसूरत रुई के रंग-बिरंगे अक्षरों में लिखा हुआ था—नारी-मन्दिर। ताँगा क्षणभर दरवाज़े पर रुककर अन्दर घुसा। दो ओर मुलायम दूब की बराबर कटी क्यारियों के बीच बहुरंगे फूल फूले हुए थे और क़तार से नाना प्रकार के वृक्षों की श्रेणियाँ बनी हुई थीं। बीच से लाल कङ्कड़ों की सड़क गोलाई में एक ख़ूबसूरत पर छोटी इमारत को घेरती हुई पीछे घूम गई थी। ताँगा उसी

गोल सड़क पर थोड़ी दूर जाकर इमारत के पास रुक गया। एक रूपवती युवती चार साल के बच्चे को गोद में लिये तांगे से उतरी। उसके उतरते ही इमारत के अन्दर से एक १४-१५ साल की किशोरी ने बाहर निकलकर उसका अभिवादन किया।

"आप माताजी से मिलना चाहती हैं?" उसने विनयपूर्वक प्रश्न किया।

"हां"

"आप अनुग्रह करके थोड़ी देर प्रतीक्षा कर सकेंगी क्या? माताजी इस समय भोजनशाला में होंगी।"

आगता रमणी इस स्थान का सौन्दर्य देखकर पहले ही मुग्ध हो चुकी थी, बालिका के विनम्र व्यवहार से और भी संतुष्ट तथा आप्यायित हुई। उसने कहा—हां, मैं प्रतीक्षा भी कर सकती हूँ; पर अच्छा हो कि आप वहीं मेरी खबर उन्हें पहुँचा दें।

"मैं अभी जाती हूँ। आप यहां पधारें। आपका शुभ नाम?" बालिका ने सिर झुकाकर सम्मान प्रदर्शित करते हुए पूछा।

"मेरा नाम कौशल्या है।" आगता ने कहा और अंदर जाकर बालिका के द्वारा निर्दिष्ट स्थान पर बैठ गयी।

क्षणभर बाद ही बालिका लौटी। उसने कहा—आपको कष्ट होगा, किन्तु माताजी ने वहीं आपको बुलाया है। वे इस समय कन्याओं को भोजन करा रही हैं।

कौशल्या उठकर बालिका के साथ हो ली।

किन्तु भोजनशाला में कौशल्या ने किसे देखा? यह क्या संध्या ही है? यह आयतलोचना, उत्फुल्ल हृदया, विकसित पाटल-कलिका की भांति ईषत् रक्तवर्णा, साक्षात् अन्नपूर्णा-सी क्या संध्या ही कोमलमति, चंचल-चपल बालिकाओं के बीच डोलती उन्हें भोजन करा रही है? कौशल्या संध्या को देखती स्तब्ध-सी रह गई। यह क्या वही उसकी बाल्यसखी है, जिसे चार वर्ष पहले उसने देखा था? उसके मुँह पर सदा जागरूक रहनेवाला उदासीन भाव आज कहां गया? कौशल्या ने देखा, यह भाव लुप्त नहीं हुआ है, किन्तु आत्म-तोष और शांति की मुस्कुराहट के अंदर छिप गया है।

कौशल्या और संध्या ने परस्पर एक दूसरे को देखा। संध्या दौड़कर कौशल्या के गले मिली—कुशी, मुझे माफ करना। मैं अपनी लड़कियों को भोजन करा रही थी। इन्हें छोड़कर कैसे आती? तू तो अचानक आंधी की तरह आती है—न खबर, न पता।

"और यह बच्चा कहां से उठा लायी री?"

"तुम्हारा ही बच्चा है जीजी।"

"न भाई, बच्चा तो तुम्हारा ही रहे। बच्चियों को मुझे सौंप देना। तू एक बच्चे की मां है और देख, मैं इतनी बच्चियों की मां हूँ।...बिट्टी, बोल तो, तू किसकी बेटी है।"

पास ही खड़ी एक छोटी-सी बच्ची ने तोतली आवाज में कहा—आपकी। और संध्या ने उसे गोद में लेकर चूम लिया।

कौशल्या ने कहा—जीजी, मुझे तो तुम्हारे जीवन से ईर्ष्या होती है।

संध्या हँसी। उसकी हँसी में गंभीर वेदना थी। उसने कहा—कुशी, तपस्या, साधना और शांति, यही जीवन है—और यह सब कठिन है। तब कठोरता से ईर्ष्या कैसी?

"मेरा तो जी होता है, मैं भी यहीं आ बसूं। तुम यहां मुझे रहने दो जीजी।"

"नहीं कुशी, तेरे सामने तेरा कर्तव्य है, तेरे बाल-बच्चे हैं, तेरा परिवार है। तुझे उन्हीं की देख-रेख करनी चाहिए। यों तू अतिथि के रूप में यहां रह सकती है।"

"अच्छा जीजी, मुझे अपना सारा आश्रम कब दिखलाओगी?"

"कल सवेरे, जब हम प्रभात-फेरी को निकलेंगी।"

उस दिन फिर कोई खास बात न हुई। कौशल्या पर इस

वातावरण का कुछ ऐसा प्रभाव पड़ा कि वह मंत्र-मुग्ध-सी इधर उधर देखती रह गयी।

प्रातःकाल चार बजे घण्टे की आवाज सुनकर कौशल्या की नींद खुली। उसने खिड़की से देखा, झुण्ड-की-झुण्ड लड़कियाँ अपने-अपने कमरों से निकलकर एक ओर चली जा रही हैं। क्षणभर बाद ही संध्या कौशल्या के पास आयी—क्यों कुशी, बड़े सुख की नींद सो रही होगी तू? उठना बड़ा बुरा लगा होगा। तुझे। लेकिन अब उठकर चल तो मेरे साथ। हम प्रार्थना करने जाती हैं।

कौशल्या को साथ लेकर संध्या प्रार्थना के मैदान में आयी। कृष्ण-पक्ष की अष्टमी की रात्रिशेष थी। चन्द्रमा की क्षीण प्रभा जादू की तरह चारों ओर छायी हुई थी। प्रभात-वायु के सुख-स्पर्श से मन-प्राण में स्फूर्ति उत्पन्न हो रही थी। बड़े-बड़े वृक्ष लम्बा-चौड़ा मैदान और असंख्य पेड़-पत्ते शांत-नीरव भाव से प्रार्थना में सम्मिलित होने के लिए सिर झुकाये मौन खड़े थे। कौशल्या के मन पर एक स्वप्न-लोक की सृष्टि हो रही थी। वह मुग्ध-विभोर होकर यह स्वप्नजगत देख रही थी।

इतने में प्रार्थना शुरू हुई। मधुर कोमल कंठ से निकला हुआ प्रार्थना का समवेत स्वर सब के हृदयों में एक अत्यन्त पवित्र भाव उत्पन्न कर रहा था। प्रार्थना दस मिनट में समाप्त हुई।

तब सन्ध्या ने लड़कियों को कुछ सरल उपदेश दिये। सदाचार और शिष्टाचार के नियम बतलाये। अनन्तर सब लड़कियों को कौसल्या का परिचय दिया। सबने कौशल्या का अभिवादन किया। और तब, सब मिलकर प्रभात-फेरी के लिए निकलीं।

प्रभात-फेरी में लड़कियाँ तीन लम्बी क़तार बनाकर चलती थीं। संध्या और उसकी सहायिका के बीच में आगे-आगे कौशल्या थी। सब की सब राष्ट्रीय गीत गाती हुई चलती थीं और गोल सड़क के दो चक्कर लगाकर प्रभात-फेरी समाप्त कर देती थीं। इस प्रकार वायु-सेवन के साथ साधारण व्यायाम हो जाता था और समस्त नारी-मंदिर का निरीक्षण भी। चलते-चलते सन्ध्या ने नारी-मन्दिर की बनावट कौशल्या को समझायी। उसने कहा—कुशी, नारी-मन्दिर दस बीघे भूमि में फैला हुआ है। बीच का यह जो मैदान तू देख रही है, इसमें फाटक के पास ही पहली इमारत मन्दिर का दफ्तर है, बीच की इमारत साधना-मन्दिर है और तीसरी इमारत छात्रावास है। इन तीनों इमारतों को घेरे में छोड़ती हुई यह सड़क एक गोल चक्कर बनाती है। इस सड़क पर चार दिशाओं में चार मन्दिर हैं—शिल्प-मन्दिर, विद्या-मन्दिर, प्रकृति-मन्दिर और उद्योग-मन्दिर। इनमें प्रत्येक के अन्तर्गत कई विभाग हैं, जिनमें रुचि, योग्यता और हैसियत के अनुसार लड़कियों

को भिन्न-भिन्न विषयों की शिक्षा दी जाती है। फाटक के ठीक पीछे, आखरी सिरे पर, एक बड़ा हाल है, जिसे हम विश्व-मन्दिर कहते हैं। इसमें प्रति रविवार को चरित्र-संगठन, समाज-निर्माण, गृह-पालन तथा राष्ट्रों की नवीनतम स्थितियों पर विवाद और भाषण हुआ करते हैं। साधना-मन्दिर मेरी निज की चाज है और एक प्रकार से मेरे अतिथियों के ठहरने का स्थान भी है। यों साधारण गेस्ट-हाउस अथवा अतिथि-मन्दिर प्रकृति-मन्दिर के अंतर्गत है।

संध्या ने प्रभात-फेरी में घूमते हुए रुक-रुककर चारों मन्दिरों का कौशल्या को निरीक्षण कराया। कौशल्या तो संध्या के कर्तृत्व पर न्यौछावर हो रही थी। उसने संध्या की प्रशंसा से उसका थका दिया।

साधना-मन्दिर में आकर कौशल्या इधर-उधर घूमने लगी, संध्या अपने काम में जुट गई। कमरे सब खुले थे और उन पर नाम लिखा था। केवल एक कमरा बंद था। उसके दरवाजे पर लिखा था—प्रेम-मन्दिर। कौशल्या थोड़ा देर वहाँ खड़ी सोचती रही। फिर अपने आप ही बड़बड़ाई—साधना-मन्दिर में प्रेम-मन्दिर की क्या जरूरत?

इसी समय किसी ने पीछे से कहा—प्रेम भी तो एक साधना ही है कुशा!

वह संध्या थी। कौशल्या ने प्रेम-मन्दिर देखना चाहा संध्या ने ताला खोल दिया—वह एक छोटा-सा, साफ़-सुथरा कमरा था, साज-सज्जा से हीन। फ़र्श पर एक शीतलपाटी बिछी थी। सामने चंदन की एक छोटी तिपाई पर खूबसूरत रेशमी जिल्द की एक किताब ताजे फूलों से ढकी रक्खी थी। सारा कमरा अगर और चंदन की पवित्र महक से भरा हुआ था। कौशल्या ने कहा—अरे, यह क्या? और उसने पुस्तक तिपाई पर से उठा ली।

संध्या ने कहा—न कुशी, उसे मत छू।

पर तबतक किताब कौशल्या के हाथों में थी।

पन्ना उलटकर कौशल्या ने देखा—पुस्तक का नाम है, स्मृति-मन्दिर। उसने कहा—वाह! यहाँ तो मन्दिर के भीतर मन्दिर है!

संध्या ने रूखी हँसी हँसकर कहा—पूजा की जगह है न!

कौशल्या ने उस पुस्तक के और पन्ने उलटे। एक पृष्ठ समर्पण का था। पुस्तक-लेखक के नाम की जगह 'एक निर्वासित' लिखा हुआ था और पुस्तक समर्पित थी 'लालिमा'—नाम को। कौशल्या को यह सब अजीब-सा लगा। उसने समर्पण पढ़ा—

लालिमा,

तपस्या, साधना और शांति, यही जीवन है। यह जीवन मैंने स्वतन्त्रता खोकर पाया है। तुमने न जाने क्या पाया

होगा ! शायद तुम्हें मेरी याद भी न हो !! पर मैं तुमसे इतनी दूर रहकर भी एक क्षण के लिए तुम्हें भूल नहीं पाता हूँ। तब बहुत से काम थे, अब एक मात्र तुम्हारी स्मृति ही शेष रह गई है। अनन्त जीवन का क्रम चलता रहेगा और मेरे हृदय में तुम्हारी स्मृति का सङ्गीत भी गूँजता रहेगा। उसी सङ्गीत के कुछ अस्फुट स्वर ये हैं। इन्हें तुम्हारे लिए उत्सर्ग करके मेरा मन कुछ सुख पाता है। ये अगर तुम्हारे पास तक पहुँच सकें, तो इनका अस्तित्व सार्थक होगा। —'एक निर्वासित'

समर्पण पढ़कर कौशल्या ने सब समझा। उसका हृदय गंभीर वेदना से ओत-प्रोत हो गया। उसने सन्ध्या की ओर देखा उसकी आँखों से आँसुओं का अजस्र प्रवाह झर रहा था। उसने कहा जीजी, तुम इतनी धीर होकर भी रोती हो ?

"नहीं कुशी; रोती नहीं हूँ। प्रेम-मन्दिर का कपाट हमेशा बन्द रहता है। उसे खोलने पर आँसुओं के रूप में उसका मूल्य चुकाना होता है।"

"जीजी, सन्ध्या की लालिमा का प्रकाश भुवन में व्याप्त हो रहा है, यह क्या तुम्हारे लिए सन्तोष की बात नहीं है ?

"उसी आधार पर कर्ममय जीवन में लगी हुई हूँ कुशी ! तू समझती नहीं ?"

सन्ध्या के हृदय से एक दीर्घ निःश्वास निकलकर कमरे की सुगन्धि में विलीन हो गया।